卐 श्रीश्रीगौरहरिर्जयति 卐

प्रकाशितग्रन्थसंख्या:—१५२.

रागानुगा-विवृतिः

श्रीलश्रीरूपकविराज-महोदय-विरचिता

रागानुगाविवृतिविनोदिनी-नाम्नी

हिन्दिभाषानुवादेनालंकृता

सम्वत्—२०२६

प्रकाशक:—

न्योछावर ५० पैसे

कृष्णदासबाबा

※ जय-गौरहरिः ※

भूमिका

श्रीरूप-गोस्वामि-प्रभु-पादने निज-विरचित भक्तिरसामृतसिन्धु नामक विशाल ग्रन्थ में द्वादश रस का विवेचन करते हुए श्रीकृष्ण में ब्रजवासियों की भक्ति को रागात्मिका भक्ति करके निर्द्धारित किया एवं उस रागात्मिका भक्ति का अनुसन्धान देते हुए तदनुगत उपासकों की भक्ति को रागानुगा भक्ति करके बतलाया। यथा—

"इष्टे स्वारसिकी-रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते॥"
"विराजन्तीमभिव्यक्तिं ब्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते"॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु में)

श्रीलरूपिकविराज-महोदय चरण ने इन दो श्लोकों पर अत्यन्त गवेषणा के साथ महान् विचार करते हुए "रागानुगाविवृति" नाम से व्याख्या लिखी जो कि—उनके अगाध-पाण्डित्य का परिचय दे रही है। रागात्मिका एवं रागानुगा-भक्ति के बारे में इस प्रकार प्रगाढ़ गवेषणापूर्ण विचार अन्यत्र कहीं उपलब्धि नहीं होगी। श्रीलविश्वनाथचक्रवर्त्ती जी ने रागानुगाभक्ति के बारे में संस्कृत में रागवर्त्मचन्द्रिका नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें

उन्होंने रागानुगा-भक्ति का सरलभाषा में सुन्दर विचार किया जो कि रागानुगा-पथिक, अनधीत व्याकरण वाले भक्तगणों के लिये परम उपादेय हुआ। परन्तु इस रागानुगा-विवृति में धुरन्धर दार्शनिक पण्डित श्रीरूपकविराजचरण ने पण्डित उपासकों को तदुचित भाषा से समझाते हुए रागानुगा-भक्ति का अनुसन्धान देकर जो उपकार किया उसे रागानुगा-पिपासु भक्त-समाज नहीं भूलेगा। व्याख्याकार प्रबल दार्शनिक पण्डित थे इस से स्पष्ट ज्ञात होता है। आपके द्वारा विरचित "सारसंग्रह" भी उज्वलनीलमणि-प्रतिपादित 'महाभाव" स्वरूप सम्बन्धी एक श्लोक की विचारपूर्ण व्याख्या है। उक्त ग्रन्थ कलकत्ता-नगरी से सुन्दर रूप से प्रकाशित हुआ है। श्रीरूपकविराज-महोदय जी श्रीप्रभु-रूपगोस्वामी जी के प्रति अपने जो प्रबल अनुराग-निष्ठा दिखलाई है वह इस रागानुगा-विवृति-व्याख्या के प्रारम्भ में उद्धृत "आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः। श्रीमद्रूपपदाम्भोजधूलिभूयां भवे भवे" इस श्लोक से स्पष्ट तया व्यक्त हो रही है।

हम भी उन की श्रीरूप-गोस्वामी के प्रति इस प्रकार प्रबल भाव-निष्ठा को देख मुग्ध होकर इस समय उन की कृति-रूप इस ग्रन्थ का प्रकाशन में अत्यन्त व्यग्र एवं गुरु गौरांग की पुनीत कृपा से सफल मनोरथ भी हुए। ग्रन्थकार ने इस विवृति-व्याख्या में स्वल्पाक्षर में महाप्रभु-गौरांगदेव के स्वरूप निर्णय बारे में जो विचार-धारा बतलाई है वह अत्यन्त अद्भुत एवं अश्रुतपूर्व है, जिसका आस्वादन व अनुभव भक्तजनता मात्र का तथा गौरभक्त-गणों का करना चाहिये। अस्तु—जब कि हम हस्तलिखित अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थों का खोज में रहे तब हमें प्रायतः समस्त लाईब्रेरी में इसकी हस्तलिखित प्राचीन

कापियाँ देखने को मिलीं। इसकी भाषा-परिपाटी, शब्द विन्यास एवं विचार-धारा को देखकर हम बड़े मुग्ध हुए और हमने इसका प्रकाशन के लिये एक पाण्डुलिपी प्रस्तुत की। विगत-कुछ दिनों से अनुबाद करने में एवं प्रकाशन-कार्य में अत्यधिक परिश्रम के हेतु प्राय: करके अस्वस्थ रहता हूँ। सुदीर्घकाल से परिश्रम के कारण मस्तिस्क में तथा साथ ही साथ शरीर में कमजोरी आ जाती है। मैं प्राय करके पतले दुवले रहता हूँ, इसका कारण अत्यधिक मस्तिस्क का परिश्रम। जब कि मैं अत्यधिक बीमार था तब मैंने इसका अनुबाद के लिये श्रीहरि-दास जी शास्त्री-महोदय, कालिदह्-निवासी से आग्रह किया, आपने अत्यन्त-प्रीति के साथ अनुबाद कर प्रकाशन के लिये सौंपा। अत्यन्त कठिनाई से इसका प्रकाशन हुआ भी तो है परन्तु जिस प्रकार प्रकाशन होना था उस प्रकार नहीं होने पाया। इसका कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह, कठिन विचार पूर्ण रहा। नवीन शैली से यह व्याख्या सुसज्जित हुई है। आगे द्वितीय संस्करण में सुन्दर-रूप से इसका प्रकाशन करने की आशा रखते हैं। श्रद्धेय द्वारभंगा-वेणीपट्टी निवासी बाबा रासबिहारीदास जी महाराज जो विहार-प्रान्त में असंख्य नर-नारियों को नैष्ठिक गौर-भक्त बनाकर भक्ति का परिचय दिला रहे हैं और जो हम को अत्यन्त श्रद्धा के साथ प्राचीत साहित्य प्रकाशन में उत्साहित करते रहते हैं उन्होंने ही इस का प्रकाशन में सब प्रकार से सहायता दिला कर उत्साहित किया है। उन को हम हार्दिक धन्दवाद देकर उनकी प्रसन्नता के लिये उन्हीं को ही यह कृति समर्पण करते हैं। मुद्रणविषय में प्रेस की गल-तियाँ बहुत रह गयीं, आगे द्वितीय संस्करण में उन गलतियों को सुधारकर विस्तृत सरल अनुबाद के साथ प्रकाशित करेंगे।

शेष में नित्यधामगत "श्रीजीवसेवासंघ" के प्रतिष्ठाता श्रीराधा-गोविन्ददास जी को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि जिन्होंने विहार-प्रान्त के बहुत जीवों को हरिभक्ति-सन्धान देकर बड़ा उपकार किया। अवशेष में हम पण्डित श्रीमुनीन्द्रझाँ, श्रीमान् जुगलप्रियादास जी, नवलकिशोरदास जी महाराज, पण्डित श्री श्यामसुन्दरदास जी, पण्डित श्रीचन्द्रशेखर जी, श्रीमान् कुमारलाल पाण्डेय जी, श्रीमान् बाबु जगदीश जी, श्रीगोविन्द-दास जो (वृन्दावन), श्री मनमोहनदास जी (वृन्दावन) आदि गौर-भक्ति-प्रचारक महानुभावों को हार्दिक धन्यबाद देकर साहित्य-सेवा में उत्साहित करते हैं। इस रागानुगाविवृति के वंगभाषा में दो पद्यानुबाद प्राप्त हैं। एक तो श्रीभगवानदासजी के द्वारा विरचित "रागानुगाविवृति-भाषा" नामक विस्तृत पद्यानुवाद, जिसमें आठ अध्याय हैं। दूसरा पद्यानुबाद किसी गोविन्ददास जी द्वारा विरचित "रागानुगाचन्द्रिका" नाम से है। दोनों महत्पूर्ण रचना बाले हैं। जिनका प्रकाशन अवश्य होना चाहिये,जिससे रागानुगा-भक्ति इच्छुक साधकों का महान् उपकर हो॥ इति॥ रागानुगा-उपासक-वैष्णवदासानु-दास—कृष्णदास बाबा (झूलन तृतीया)

ऐशबुद्धिवासितात्मलोकवृन्ददुर्ल्लभा
व्यक्तरागवर्त्मरत्नदान–विज्ञवल्लभा।
सप्रियालि-गोष्ठपालि-केलिकीर-पञ्जरी
मामुरीकरोतु नित्येदह-रूपमञ्जरी॥

(साधनदीपिकायाम्)

विनीत—कृष्णदास

रागानुगाविवृतिः

॥ श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः ॥

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः ।
श्रीमद्रूपपदाम्भोजधूलिर्भूयां भवे भवे ॥

अथ साधनचतुष्टये प्रथमं मुख्यसाधनविवृतिः ।

"इष्टे स्वारसिकी-रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते" ॥

अत्राविष्टता रागकार्य्यरूपा तस्यास्तटस्थलक्षणेनानुवाद-वैचेष्टितग्रहणाय । तत्तु रागानुगायां चेष्टितग्रहणापेक्षया । सा तु तस्यां कायिकी-वाचिकीतिभेदद्वयस्वीकाराय, सातु सवदा ब्रज-लोकानुसाराय, स श्रीब्रजेन्द्रनन्दनप्राप्तये, अन्यथा सा न स्यात् । अत आविष्टता त्रिधा मनोगता वाग्गता कायगतेति । अत्र मनोगता स्वगतादिरूपा, अतो रागानुगायां तदनुसारिणी साधकरूपेण सिद्धरूपेण च सेवा प्रत्येकं त्रिधा मानसी वाचिकी कायिकीति ।

रागानुगालक्षणम्—

"विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु ।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते" इति ।

रागात्मिका द्विधा, सम्बन्धरूपा कामरूपेति । अत्र सम्बन्ध-रूपालक्षणम्—"सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिते" ति । अत्र पितृत्वाद्यभिमानिता पितृत्वाद्यभिमानकार्य्यरूपा स्वारसिकी परमा मनोवाक्कायाविष्टता । अतः सम्बन्धानुगायां तदनुसारिणी साधकरूपेण सिद्धरूपेण च सेवा प्रत्येकं त्रिधा मानसी वाचिकी कायिकीति ।

कामानुगालक्षणम्—

कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ।
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा ।

अत्र सम्भोगेच्छा तत्कार्यरूपा यूथेश्वरीगतस्वारसिकी परममनोबाक्कायाविष्टतानुसारिणी साधकरूपेण सिद्धरूपेण च सेवा, प्रत्येकं त्रिधा मानसी वाचिकी कायिकीति । तत्तद्भावेच्छा भावेति चेष्टितोपलक्षणं "भावचेष्टितमुद्रये"ति वचनात् । अतस्तत्तद्भावचेष्टितेच्छा तत्कार्यरूपा श्रीरूपमञ्जर्य्यादिगत-स्वारसिकी परम मनोवाक्कायाविष्टतानुसारिणी साधकरूपेण सिद्धरूपेण च सेवा, प्रत्येकं त्रिधा मानसी वाचिकी कायिकीति । 'कृष्णं स्मरन् जनश्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्। तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्य्याद्वासं व्रजे सदे' त्यत्र स्मरन्निति-सिद्धरूपेण मानसी वाचिकी कायिकी सेवा दर्शिता । साधकरूपेण च मानसी–सेवा दर्शिता । "तत्तत्कथारतश्चासावि" ति साधकरूपेण कीर्त्तनश्रवणाभ्यां वाचिकी कायिकी सेवा दर्शिता । "कुर्य्याद्वासं व्रजे सदे"ति साधक–रूपेण, पुनः कायिकी–सेवा दर्शिता ॥

रागानुगाधिकारिणो लक्षणम् –

"रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः ।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवानिति"॥

अत्र भावोक्तलक्षणा रागात्मिका, अस्या आश्रय विशेषकत्वात् । "लुब्धैर्वात्सल्यसख्यादौ भक्तिः कार्य्यात्र साधकैः । व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया" अत्र भाव-चेष्टित मुद्रयेति सिद्धरूपेण मानसी वाचिकी कायिकी–सेवा दर्शिता । साधकरूपेण च मानसी सेवा दर्शिता । चेष्टितमुद्रयेति साधकरूपेण वाचिकी कायिकी सेवा दर्शिता । "तत्तद्भावादिमाधुर्य्ये श्रुते धीर्यदवेक्षते । नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षण''मित्यत्र तत्तद्भावा-दि-माधुर्य्य इत्यत्रादिशब्दाच्चेष्टितम् । अतो भावचेष्टामाधुर्य्ये

श्रुते सति धीर्भावचेष्टामाधुर्य्यं यदपेक्षते कदेदं भावमाधुर्य्यं चेष्टा-माधुर्य्यञ्च मम भवेदिति। किञ्च तत्रापेक्षणे शास्त्रयुक्तिञ्च नापेक्षते तल्लोभोत्पत्तेर्लक्षणं स्वरूपम्। अत्र भावचेष्टितमाधुर्य्य इति जातलोभस्य श्रीकृष्ण-तद्भक्तकारुण्येन सर्वथा व्रजलोकानु-सारश्चेत्तदा तस्य सिद्धरूपेण मानसी वाचिकी कायिकी सेवा दर्शिता, साधकरूपेण च मानसी सेवा दर्शिता। चेष्टितमाधुर्य इति पुनस्तस्य साधकरूपेण वाचिकी कायिकी सेवा दर्शिता। साधक-रूपेण क्रियमाणयोर्वाचिक-कायिकसेवयोः साधक-रूपेण मान-स्यामपि सेवायां सद्भावः स्वगतमितिवत् मनसापरिष्वङ्गं कृत-वानितिवच्च ॥

अत्र व्यतिरेकप्रदर्शनम्—

"यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते" इति ॥

रागोऽत्र स्वारसिकपरममनोवाक्कायाविष्टतायां मनोवाक्कायैरनुसारः, व्याख्यान्तरे लोभव्यतिरेकप्रदर्शनरूपे सेवा साधकरूपेणेत्यादेरिरंसामित्यादेश्च 'भक्तिः कार्यात्र साधकैः। व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रये' त्यस्य चाप्रयोजकत्वात्। साधकरूपमन्तः स्थितप्राप्त-श्रीकृष्णादिसंगव्रजजनानुकारिरूप-यथास्थितदेहतयान्तः स्थितयथास्थितदेहाप्राप्तश्रीकृष्णादिसंग-व्रजजनानुकारिरूपतया द्विधा। सिद्धरूपस्य प्राप्तश्रीकृष्णादि-संगव्रजजनानुकारित्वात्। आद्यं बाह्यदशायामन्तिममद्धं बाह्य-दशायामन्तर्दशायामपि क्वचित्। सिद्धरूपन्त्वन्तर्दशायां सदान्त-र्दशायां सिद्धरूपमेव सदा। उभयत्र सदेति बहुकालव्यापित्वात्। तच्चाजातप्रेम्नि तस्याः सार्व्वदिकत्वाभावात्। एतएवाभावं

तटस्थांशानिवृत्तेः। साधकरूपसद्भावेनाभावं लुब्ध प्रात सेवा-साधकरूपेणेत्यादि पदद्योपदेशादस्य पक्षस्य तन्त्रगा व्याख्यात्रयम्। तन्त्रग्रहणमनुकल्पमुख्यकल्पयोः स्वीकाराय। तत्र प्रथमव्याख्या-ऽनर्थनिवृत्तिमभिव्याप्य, द्वितीयव्याख्या रुचिमभिव्याप्य, तृतीय-व्याख्या भावम्। प्रथमव्याख्या द्वितीयव्याख्या च व्यक्ता। तृतीयव्याख्या—

साधकरूपगतान्तर्दशायां यथा :--

वीणा-वैणिकतुल्यत्वं सिद्धसाधकरूपयोः।
यथा तयोर्विभेदेऽपि गानयोरेकतानता॥
तुल्यस्वरूपत्वत्वञ्च तथा तद्रूपयोर्द्वयोः।
भेदेऽपि सेवयोः साम्यमेककालत्वमेव च॥
यथा वैणिकचित्तस्था गीतेर्वीणाभवा तथा।
सेवा साधकरूपस्था सिद्धरूपे प्रवर्त्तते॥
भेदे यथा रसो न स्याद्वीणा-वैणिकगानयोः।
तथा तत् सेवयोर्भेदे व्रजभावो न जायते॥
वैणिके मानसी गीतिर्वीणायां कायिकी क्वचित्।
एवं कालादिसाम्येऽपि मन आदेर्भिदा क्वचित्॥
क्रमो न लाघवाल्लक्ष्यो-वीणा वैणिकगानयोः।
क्रमो न लाघवाल्लक्ष्यः सेवयोरुभयोरपि॥
तटस्थतानन्तर्वान्तर्दशा साधकरूपगा।
तस्या अतिशयादन्तर्दशा स्यात् सिद्धरूपगा॥

लाघवं विशेषः, केवला बहुकालव्यापित्वेऽस्यान्तर्दशा

स्थायिगतत्वे कैवल्येन तत्रापि केवलानुलोम्यगतत्वेनैकदेशव्यापित्वात्, किन्तु सामान्ये केवलस्वरूपोत्कर्षानुलोम्यगतबहुकालव्यापित्वे स्वरूपोत्कर्षप्रातिलोम्यगतौ सिद्धरूपगतान्तर्दशाया बहु-कालव्यापित्वेन साधकरूपगतान्तदशाया बहुकालव्यापित्वं सामान्यम्. गौणिकस्थानीय साधकरूपस्याऽन्तर्भूतप्राप्तश्रीकृष्णादिसंगव्रजजनानुकारिभावनामय-यथास्थितरूपतयाऽन्तर्भूतयथास्थितरूपाप्राप्तश्रीकृष्णादिसंगव्रजजनानुकारिभावनामयतया द्वैविध्यम्। अस्य भेदद्वयस्यावान्तरत्वात् पूर्णं तन्त्रेण व्याख्यात्रयमित्युक्तम्। अत्र पूर्णमासक्तौ परमासक्तौ भावे च। एतद्द्वैविध्यमन्तर्दशायामपि यथास्थितरूपस्य लोकप्रतीयमानव्यापकत्वभावाभावाख्याम्। व्यापकत्वे प्रतीतिः प्राप्तश्रीकृष्णादिसंगव्रजजनानुकारिभावनामयरूपस्य प्रथमारोपात्। लोकोऽत्रारोपक एव। अतः साधकरूपस्य चातुर्विध्यम्। सिद्धरूपस्यैकविध्यमेव। अत्र सदैवान्तर्दशा पूर्णचातुर्विध्ये क्रमेण वाह्यदशाऽन्तर्वाह्यदशा पूर्णान्तर्दशा परान्तदशा। अत्र पूर्वान्तर्दशेति स्थायित्वात् वाह्यदशायाः प्रातीतिकत्वाच्च। साधकरूपसिद्धरूपगतान्तर्दशयोर्वैलक्षण्यं यथास्थितरूपयोगायोगाभ्याम्, अतः साधकरुपेऽन्तर्दशेति तत्प्राचुर्य्यात् साधकरूपेऽन्तर्दशास्वीकारः। अन्तर्दशां विना रागानुगानुपपत्तेः। अत्र प्रयोगः-साधकरूपे-रागानुगा साधकरूपेण व्रजलोकानुसारित्वात्। साधकरूपेण व्रजजनानुकारिभावनामयरूपस्यारोपः, साधकरूपे रागानुगातः साधकरूपेऽन्तर्दशा साधकरूपे व्रजजनानुकारिभावनामयरूपस्यारोपः अतः प्रथमसाधकरूपे वाह्यदशा तत्प्राचुर्य्यादेव। सिद्धरूपगतान्तर्दशाया बहुकालव्यापित्वस्वरूपोत्कर्षयोः सतोः साधकरूपगतान्तर्दशायास्तौ स्याताम् तटस्थतायास्तु तौ ह्रासं प्राप्नुयाताम् पूर्वस्यास्तौ यथा यथा वर्द्धयतां परस्यास्तौ तथा तथा वर्द्धयताम्, तटस्थायास्तु तौ तथा

तथा ह्रासं प्राप्नुयातां, तयोस्तथा तथा वैलक्षण्यहानिः सालक्षण्य-प्राप्तिश्च भवेत्। अतएव प्रम्णि तटस्थतायाः सम्यङ्निवृत्तिः, तयोः सम्यग्वैलक्षण्यहानिः सम्यक्सालक्षण्यप्राप्तिश्च। अन्तर्दशाया अदर्शनेऽपि तस्याः कार्य्यं तटस्थतायामेतस्या अवहुकालव्यापित्वे स्वरूपापकर्षरूपं तिष्ठति। एवं तटस्थताया अदर्शनेऽपि तस्याः कार्य्यमन्तर्दशायामेतस्या अबहुकालव्यापित्वस्वरूपापकर्षत्वं तिष्ठति। प्रत्ययादर्शने प्रत्ययकार्य्यमिव। साधकत्वहेतुयोग-तटस्थतायामन्तर्दशायास्तत्स्वरूपापकर्षत्वमेव कार्य्यम्। विशेषतः

कामानुगाधिकारिणो लक्षणम्—

"श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं वीक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा।
तद्भावकाङ्क्षिणो येस्युस्तेषु साधनतानयोः।"

अत्र तत्तल्लीलामिति भावोपलक्षणं तद्भावेति चेष्टितोप-लक्षणम्। अत्रापि तत्तद्भावादिमाधुर्य्ये इत्यादिवद् व्याख्यानुस-न्धेया। सम्बन्धानुगायां कामानुगायामधिकारे जाते सति तावधिकारिणौ प्रति प्रत्येकमुपदेशः, "सेवासाधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्या ब्रजलोकानुसारत" इति। तद्भावेति चेष्टितोपलक्षणं, षड्विधसेवायामपेक्षितत्वात्। उपदिष्ट-साधकरूप–सिद्धरूपक्रियमाण-ब्रजजनविशेषानुसारिव्यतिरेकप्रदर्शन-म्, यत्र रागानवाप्तत्वादित्यादि। "रिरंसां सुष्ठु कुर्व्वन् यो विधिमार्गेण सेवते। केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात्पुरे" इतिच। सर्वथा ब्रजलोकानुसारः, श्रीनन्दनन्दनश्रीरूपगोस्वामि-पादादिकरुणां विना न स्यात्‌यथा—

"कृष्णतद्भक्तकारुण्यलाभमात्रैकहेतुका।
इयं रागानुगा कैश्चित् पुष्टिमार्गतयोच्यते" इति।

आविष्टता-त्रयाभावात्तटस्थं रूपमुच्यते ।

अत्राविष्टता-त्रयं स्वारसिकपरममनोवाक्कायाविष्टतानां मनो वाककायैरनुसारत्रयम् । "कायिकी वाचिकी चैव मानसी चेति या-त्रिधा । सेवा तटस्थरूपेण प्रत्येकं सा पुनस्त्रिधा । स्वपुंस्त्वभावना युक्श्रीकृष्णैश्यभावना युता । भावनाद्वययुक्चेति नैति कामानुगा-ङ्गताम् । प्रथमा त्रिविधा पुंस्त्वभावनेतरसाम्यतः । आनन्तर्य्यात् पोषणाच्च पतेत्कामानुगां प्रति । व्रजभावेतरानर्थनिवृत्त्यादिक-मन्यतः" । स्वपुंस्त्वभावनायुगित्यत्र पुस्त्वप्राधान्यादेव किन्तु यथास्थितदेहमात्रत्वं ज्ञेयम् । एवं सम्बन्धानुगामपि ज्ञेयम् । "यस्य साधकरूपन्तु न तटस्थात् पृथग्भवेत् । तस्य साधकरूपं स्थात्तटस्थं रूपमेव हि । रसनायां यथा वस्तु विशेषद्वयमिश्रिता । एवमेकार्थनिष्पत्तेः सिद्धसाधकरूपयोः ।। संश्लेषो हि यथा वस्तु विशेषद्वयपात्रयोः । एवं तटस्थरूपस्य सिद्धरूपस्य सम्मतः । तट-स्थेनापि रूपेण न कुर्य्यात् कर्म्म कुत्रचित् । मदिरासदृशं तद्धि सान्निध्यात्तस्य दोषभाक्" सिद्धरूपस्य भावनामयत्वात् तत्र रागानुगैव न तु रागात्मिका । साधकरूपे तु रागानुगा तत्र भावनामयरूपस्यारोपादेव । तटस्थरूपेण रागानुगा तत्र भावनामयरुपस्यारोपाभावात् । तटस्थतायामपि रागानुगा फलरुपा निष्ठादयो न वियन्ति यथा साधनविरामेऽपि तत्फलरूपः प्रेमा न व्येति । साधकरूपे यदा निष्ठादय उदयं प्राप्नुवन्ति तदा सिद्धरूपे ते उदयं प्राप्नुवन्ति तत्तु वीणा- वैणिकदृष्टान्तेन दर्शितमेव । साधकरूपे प्रेम्नि जाते सति भावनामयरूपमेव जात प्रेम सत् साक्षाद्रूपं भवति । साधकरूपमपि सिद्धं सत् साक्षाद्रूपेण सहैक्यं प्राप्नोति तदा तत्र तत्र रागात्मिका । श्रीगुर्वादीनान्तु सिद्धरूपे साधकायमानरूपे च रागात्मिकैव न तु रागानुगा, यथा

श्रीरूपगोस्वामिपादादीनां तेषां साधकरूपे साधकायमानत्वात्। स्वस्य सिद्धरूपे सिद्धायमानत्वात् ते सिद्धाः स्वयं साधकाः अनेन भावनामयरूपस्य सत्यत्वमायातम्। न तन्मयमनामयस्येव मिथ्यात्वं, अन्यथा तत्कृतसाधनस्य मिथ्यात्वापत्तेः किन्तु व्यतिरेकप्रदर्शनगतभावनामयस्यासत्यत्वेऽपि फलान्तरप्राप्त-कत्वम्। भावनामयपक्षस्य मयट्प्रत्ययार्थस्यावास्तवत्वेऽपि भावनारूपप्रकृत्यर्थस्य सत्यत्वेन तत्कृतस्मरणमाहात्म्यात्। यदा श्रीकृष्णतद्भक्तकारुण्यलाभेन मनोवाक्कायैः सर्व्वथा व्रजलोकानुसारो जायते तदैव श्रीव्रजेन्द्रनन्दनेन दिव्यसर्गादिकर्त्तृत्वरूपा-चिन्त्यशक्त्या सापेक्षणीयभावनामयरूपं निर्म्मीयेतत् किन्तु भावनामयरूपेण श्रीव्रजे स्थितिः श्रीव्रजलोकसंगश्च श्रीव्रजेन्द्रनन्दनसेवा च श्रीनन्दनन्दनदुर्घटघटनरूपाचिन्त्यशक्त्या संपद्यते। सापेक्षणीयभावनामयजनभावनामयरूपे साक्षाद्रूपे जाते सति श्रीनन्दनन्दनव्रजजनैः सहोत्पत्तिकसम्बन्धोऽपि श्रीनन्दनन्दनदुर्घटघटनारूपाचिन्त्यशक्तिविलासः, भावनामय-रूपस्य सत्यत्वं मानसेनोपचारेणेत्यादिपदद्यस्य टीकायां द्रष्टव्याम्। यथा कदाचिन्मनसैव घृतसहितं परमान्न निर्म्माय सौवर्णपात्रेण तद्भोजनार्थमुत्थाप्य स्थितस्तत्तप्ततया स्फुरिते तस्मिन् प्रविष्टम-ङ्गुलियुगलं दग्धं प्रतियन् हन्त तदिदं दुष्टं जातमिति दुःखेन तद्धित्वा समाधिभङ्गेऽपि जाते दग्धाङ्गुष्ठतया बहिरपि पीड़ितो वभूवेत्यत्र स्फुरित इति प्रतियन्निति गृहीतसघृतपरमान्नपात्रस्य तद्धृतसौवर्णपात्रस्थितसघृतपरमान्नस्य भावनामयत्वमायातम्। दग्धाङ्गुष्ठतया वहिः पीड़ितो वभूवेति भावनामयस्यैतस्य सत्यत्वमायातम्, अन्यथा परमान्नतप्ततयाङ्गुष्ठदग्धत्वस्यासम्भ-वात्। वहिर्दग्धाङ्गुष्ठतया पीड़ितत्वेन सिद्धसाधकदेहयोः रसनायां

वस्तुद्वयस्येव मिश्रिता याता। अतएवसिद्धरूपेण यत्करोति तत् साधकरूपे प्रचरति साधकरूपेण यत्करोति तत् सिद्धरूपे प्रचरति, तस्मात् सिद्धसाधकरूपाख्यो ब्रजलोकानुसार एव मनो वाक्कायैः कर्त्तव्य इति । अत्र प्रयोगः–भावनामयं तप्तं परमान्नं रूपञ्च सत्यं दग्धाङ्गुष्ठतया वहिः पीड़ायाः सत्यत्वात् । अतः सिद्धरूपस्य भावनामयत्वेऽपि व्यूहत्वं, अहन्तास्पदस्यात्मन ऐक्यविध्यात् । ममतास्पदस्य देहरूपस्य साधकरुपत्वमिद्धरुपत्वाभ्यां द्वैविध्याच्च । तदा तटस्थरूपस्य न व्यूहत्वं, तस्मिन्ममतास्पदत्वस्य वाधितत्वात्, "हर्षनिष्ठादिकं सर्व्वं सिद्धरूपगतं हि तत् । पतेत् साधकरूपेऽनुभवितेको यतस्तयोः । वीणावैणिकतुल्यत्वं नातः सर्वांशतस्तयोः । व्यूहत्वाभावभावाख्या महती सिद्धरूपयोः" ॥ अतएव क्वचित् सिद्धरूपगतान्तर्दशानन्तरा साधकरूपगतान्तर्दशा साधकरूपगतान्तर्दशानन्तरा साधकरूपगतान्तर्दशा साधकरूपगतान्तर्दशानन्तरा तटस्थता क्वचित् सिद्धरूपगतान्तर्दशानन्तरा साधकरुपगतान्तर्दशा पुनस्तदनन्तरा सिद्धरूपगतान्तर्दशा इति । ब्रजलोकाः श्रीमद्रूपगोस्वामिपादादयः । तदनुसारतः साधकरूपेण सेवा कार्य्येति तन्त्रेण व्याख्यान्तरमन्यत् समम् । अतः श्रीगुर्व्वादीनां साधकायमानरूपस्यानुसारः साधकरूपेण कर्त्तव्यो नतु तटस्थायमानरूपस्य । श्रीरूपमञ्जर्य्यादिषु कामरूपा भक्तिर्नतु सम्भ्रमप्रीतिरूपा । यथा मुक्ताचरिते:— "स्वाभिलषितपरिचरणविशेषलाभाय च रंगणमालाप्रभृतय एताः परमप्रणयिसख्योऽपि परिचारिका इव व्यवहरन्तीति" । अत्र रंगणमाला रंगणवल्लीति श्रीरूपमञ्जर्य्याः द्वे नामनी ज्ञेये । श्रीगोविन्दलीलामृते:—

"आश्चर्य्यं हरिणा राधा गाढ़मालिङ्गिता चिरम् ।
तदसंगतियुक्ताऽपि निवृतासीत् सखीततिरिति" ।

वृन्दाप्रश्नानन्तरं नान्दिमुख्या उत्तरम्—

"सख्यः श्रीराधिकायाः व्रजकुमुदविधोर्ह्लादिनीनामशक्तेः
सारांशप्रेमवल्ल्याः किशलयदलपुष्पादितुल्याः स्वतुल्याः ।
सिक्तायां कृष्णलीलामृतरसनिचयैरुल्लसन्त्याममुष्याम्
जातोल्लासाः स्वसेकाच्छतगुणमधिकं सन्ति यत्तन्न चित्रमिति"॥

श्रीरूपमञ्जर्य्यायाः सदा भावोल्लासान्वयाः ।
"मदीशानाथत्वे व्रजविपिनचन्द्रं व्रजवनेश्वरीं तां नाथात्व"
इति वचनात् । भावोल्लासस्य लक्षणम् —

"सञ्चारी स्यात् समोना वा कृष्णरत्याः सुहृद्रतिः ।
अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्य्यते ॥"इति ।

सञ्चारीति श्रीकृष्णरतिमूलकत्वात्, तच्च श्रीकृष्णरतेः स्वपक्षत्वादिहेतुत्वात् । अत्र भावोल्लासः स्थायीविशेषः, किन्तु श्रीकृष्णरतेः परार्थत्वाभावान्नाङ्गत्वं तद्विषयरसस्याङ्गित्वमेव । अतएव भावोल्लासस्थायिकः श्रीराधिकाविषयरसोऽङ्गिमेव नतु हास्यादिवदङ्गी । हास्यादौ रतेः परार्थत्वात् । अत्र प्रयोगः श्रीकृष्णरत्याः पुष्यमाणात्ततोऽधिकापि सुहृद्रतिस्ततो नाधिका श्रीकृष्णरतेः समाया अपि सुहृद्रतेस्तस्या व्यभिचारित्वात् । अथोदाहरणदिग्दर्शनम्—

"श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास—
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥"

इत्यस्य पदचस्य प्रेमकृतोत्कर्षदृष्टिप्राप्तार्थमात्रानुसन्धानेन, मनोवाक्कायैः मञ्जर्य्यादिपूर्वावस्थापरावस्थयोरनुसारेण साधक-

रूपेण सिद्धरूपेण च कामानुगायां सेवा षड्विधा भवति। प्रत्येकं ज्ञानप्राप्तार्थमात्रानु-सन्धानेन सा षड्विधा, प्रतीयमाने मञ्जर्य्या-दयनुसारेऽप्यजातप्रेमतया साधकत्वे वैध्येव भवति। "यथा वादका-चित्तस्था गीतिस्तन्मुखनिःसृता। तत्कर्त्तृसंगता वीणासम्भवा युगपद् भवेत्। एवं साधकचित्तस्था सेवा तन्मुखनिःसृता। तत्कर्त्तृसंगता सिद्धरूपचित्तादिसम्भवा"। तत्र ज्ञानप्राप्तार्थः स्पष्टः प्रेमोत्कर्षदृष्टिप्राप्तार्थो यथा—यत्पदाम्बुजरजः यस्य नारायणस्य पदाम्बुजरजः श्रीश्चकमे तद्वत्तवेति "तस्मान्नदा-त्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैरि'त्युक्तत्वात् स इव यस्त्वं तस्य तव पादरजो वयं प्रपन्ना इति। यथास्थितदेहेणार्थद्वया-स्वादनं तटस्थरूपेण, तत्तु मानसवाचिककायिकतया प्रत्येकं त्रिधा, स्त्वपुंस्त्वभावनायोगायोगाभ्यां पुनस्तत्प्रत्येकं द्विधा, अत्र स्वपुंस्त्वभावनां विना यथास्थितरूपेण मनोवाक्कायैस्त्रिविधपरा-र्थस्वादनं कैमुत्येन कामानुगां प्रत्यापतेदिति। तत्त्रिविधभेदास्वी-काराद्भेदानां द्वादशत्वेऽपि नवत्वमिति। श्रीमहाप्रभोर्भाववर्णौ श्रीराधिकाभाववर्णाभ्यांसहैकीकृत्य तस्य स्वरूपं श्रीनन्दनन्दनस्व-रूपेनैकीकृत्योक्तलक्षणसाधकरूपोपयुक्तदशायां तत्तदेकीकरणानु-सन्धानवलितं तस्य लीलास्वादनमुक्तलक्षणसाधकरूपेण तस्मिन् ास्वादनेऽऽवेशातिशयादन्तर्दशायां सत्यां तत्तदेकीकरणानुसन्धान-रहितं तत् श्रीकृष्णलीलास्वादनगतभावनामय-सिद्धरूपेण। अत्र तटस्थस्वरूपं नास्त्येव। "शचीसूनुं नन्दीश्वरपति-सुतत्वे" इति नन्दनन्दनस्यैव विधेयत्वात्। यथा श्रीनन्दनन्दनस्य प्रकाशद्वैविध्याभावेऽपि श्रीगौरविधुत्वम्। एवं श्रीरूप-मञ्जर्य्यादीनां प्रकाशद्वैविध्याभावेऽपि श्रीमद्रूपगोस्वा-म्यादित्वम्। एवमन्यमञ्जर्य्यादीनां प्रकाशद्वैवध्याभावेऽपि श्रीमद्रु-पगोस्वाम्यादयनुगतत्वम्। अतएव श्रीगुर्व्वादीनां प्रकाशद्वैविध्या-

भावेऽपि श्रीरूपगोस्वाम्यादीनामनुगततया सङ्गित्वम्। अतएव श्रीनन्दनन्दनादीनां श्रीगौरविध्वादीनांचप्राप्तिः समकाला समरूपा च। अत्र प्रकाशद्वैविध्याभावस्वीकारः प्रकाशपरमवैशिष्ट्यापेक्षया। साच सर्वथा भेदाभावापेक्षया, प्रकाशधामपरिकरसमयलीलादिगतभेदानां मध्ये भेदस्यैकतरस्य स्वीकारः अत्र तु तेषां मध्ये तस्यैकतरस्याप्यस्वीकार इति। परमवैशिष्ट्यं स च सर्वेषां तेषां युगपत्प्रकाशस्वीकाराय प्रकाशस्याचिन्त्यत्वम्। प्रकाशद्वैविध्याभावेऽपि श्रीगौरविधुत्वादिकस्यैतस्याचिन्त्याचिन्त्यत्वं तच्च कलियुगपावनत्वादिना परमकारुण्याधिक्येऽपि प्राकट्ये हेतुत्रयसद्भावेन श्रीराधिकाभाववर्णस्वीकारपरमसत्तायामपि अतएव तदुभयमिश्रणेन सितामिश्रणेन घनावर्त्त पयस इव लीलाया माधुर्य्यवैशिष्ट्येऽपि सिद्धरूप-साधकरूपगतकामानुगायास्तदुभयपृथक्भावेसतिसाधकरूपगतायास्तस्यास्तदुभयदीप्तत्वेऽप समयादिभेदाभावादिति॥ वैधी—भक्त—साधकरूपाचरणं तत्सालक्षण्य—प्रतीयमा—नरागानुगा--भक्त--तटस्थरूपाचरणयोर्वैलक्षण्यं ब्रजलोकानुसारं विना शास्त्रशासनेन लोभेन वा स्वाभीष्टसाधकत्वेन तटस्थरूपसाहित्याभावेन च यत् क्रियते तत् पूर्व्वम्, ब्रजलोकानुसारं विना शास्त्रशासनलोभौ च विना स्वाभीष्टासाधकत्वेन साधकरूपसाहित्याभावेन च यत् क्रियते तत् परम्। शास्त्रस्य शासनेनैवेत्यवकारो ब्रजलोकानुसारं विना लोभस्य शास्त्रशासने प्रवर्त्तकत्वात्। शास्त्रशासनब्रजलोकानुसारानपेक्षाचरणस्यामार्गत्वाच्च। वैधी-रागानुगा च मार्गौ। "लोभेन कर्माचरणेन तद्भक्तिर्यथा भवेत्"। लोभेन वैध्याचरणे न सा रागानुगा तथेति। आवेशं मानसं ब्रूते वाचिककायिको हि सः। यथा वैणिकचित्तस्थां गीतिं वीणाभवा हि सा। अतो मानस आवेशे

साधकत्वमबाधितम् । अयोगेऽपि हि सान्निध्यमुत्तमाधमयोर्मिथः । स्वकार्य्योत्पाद्यवश्यं स्यात् सिद्धरूपतटस्थयोः" । अत्र प्रयोगः- अयोगेऽपि तटस्थता स्वकार्य्योत्पादिका सिद्धरूपगतान्तर्दशा परिच्छेददशान्तत्वाच्च अयोगेऽपि सिद्धरूपगान्तर्दशा स्वकार्योत्पादिका तटस्थतायाः परिच्छेदादेः । सिद्धरूपस्य न यथास्थितदेहयोगः व्यतिरेकसिद्धत्वेनारोपाभावात् । यथास्थितदेहविषयाभिमानस्य लीनत्वे सति सिद्धरूपगतसेवोदयाच्च । "यद् योगात्साधकं रूपं ताटस्थ्यं सूक्ष्ममेव तत् । लिङ्गं जीवमिवाभावं तज्जहाति न तत् क्वचित् । बन्दे श्रीकृष्णप्रेमाणं यस्योद्गमनमात्रतः । ताटस्थ्यं निधनं याति तमस्सूर्योदये यथेति"। तन्त्रेण व्याख्यान्तरम्— प्राप्तश्रीकृष्णादिसंगव्रजजनानुकारिभावनामयरूपस्य यथास्थितदेहयोगायोगाभ्यां साधकरूपत्वसिद्धरूपत्वे उभाभ्यां सेवा द्विधा पूर्वा परेति । साधकरूपगतवाह्यान्तवाह्याद्धवाह्यदशयोः पूर्वा । साधकरूपगतान्तर्दशायां परा । पूर्वा समरूपाप्यसमकाला परा समकाला च । पूर्वस्यां भावनामयरूपस्य यथास्थितदेहेऽन्तर्भूतत्वम् । पूर्वे द्वितीयव्याख्यायां साधकरूपेण सेवायां यथास्थितदेहस्य भावनामयरूपेऽन्तर्भूतत्वमत्र तु भावनामयरूपस्य यथास्थितदेहेऽन्तर्भूतत्वमिति वैलक्षण्यमत्र साधकरूपासिद्धरूपगतसेवयोः समरूपत्वात् झटिति सिद्धरूपगतसेवापातेन साधकरूपगतसेवायाः प्रावल्यभावेनार्द्धवाह्यदशायाः स्थायित्वेऽप्यारोपे वाह्यदश-सद्भावात् । परस्यां यथास्थितदेहस्य भावनामयरूपेऽन्तभूतत्वम्,परस्यामेव साधकरूपसिद्धरूपयोर्वेणिवयवीणातुल्यत्वमिति । अत्र विवक्षितसाधनांशनोपादे तत् पूर्वं न दर्शितमिति । अत्र सिद्धसाधकरूपगतरागानुगा त्रिधा दर्शिता । लोभमारभ्यारुचि वाह्यार्द्ध वाह्यदशयोरसमरूपाऽसमकाला चाशक्तिमारभ्याभावमन्तर्दशायां समरूपा समकाला चेत्यन्या । लोभमारभ्याभावं वाह्यार्द्ध वाह्यदशान्तर्दशा स्वसमकाला समरूपा चेत्यन्या ।

सिद्धसाधकरूपयोरत्र वीणा-वैणिकतुल्यत्वं नास्ति। लोभमारभ्यार्चि वाह्याद्धवाह्यदशयोः समरूपाप्यसमकाला चाशक्तिमारभ्याभावान्तदर्शायां समरूपा समकाला चेत्यन्येति। समञ्जसानुरागा वैधीकामानुगातोऽभिन्नतया रागानवाप्तत्वेन "पतिरेव गुरुः स्त्रीणामि"त्यादि समञ्जसागतशास्त्रशासनप्रवृत्त्या "यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते। शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते" इत्युक्तवैधीलक्षणव्याप्तेः समञ्जसानुगायाः कामानुगातोऽभिन्नता। "सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्। यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमा" इत्युक्तलक्षणकामरूपायाः समर्थापरपर्य्यायित्वात्। तच्च "किञ्चिद्विशेषमायान्त्या सम्भोगेच्छा ययाभितः। रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेतिभण्यते। सर्वाद्भुतविलासोर्म्मि-चमत्कारकरश्रियः। सम्भोगेच्छाविशषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते" इत्युक्तलक्षणसमर्थाशालक्षण्यादिति। "श्रीनरोत्तमपादाब्जं स्फुरतां हृदि मे सदा। तच्छ्रीधुमत्तक्षुद्भृङ्गैर्जनैसंगोऽस्तु मेऽनिशम्" इति रागानुगाविवृतौ पूर्व्वार्द्धम्॥

मनोवाक् कायसम्बन्धात् सेवैकैव त्रिधा भवेत्।
मानसी वाचिकी चैव कायिकीति विचारतः॥

यथा साधकरूपेण मानसी वाचिकी कायिकीति त्रिधा सेवा—

"कदा विम्बोष्ठि! ताम्बूलं मया तव मुखाम्बुजे।
अर्प्यमाणं व्रजाधीशसूनुराच्छिद्य भोक्ष्यते॥"

सिद्धरूपेण मानसी वाचिकी कायिकीति त्रिधा सेवा यथा—

"याते कञ्चुलिरत्र सुन्दरि! मया वक्षजयोरर्पिता
श्यामाच्छादनकाम्यया किल न साऽसत्येति विज्ञायताम्।
किन्तु स्वामिनि कृष्ण एव सहसा तत्तामवाप्य स्वयं
प्राणेभ्योऽप्यधिकं स्वकं निधियुगं संगोपयत्येव हि"॥

तटस्थरूपेण स्वपुंस्त्वभावनाया योगेन मानसी वाचिकी कायिकीति त्रिधा सेवा यथा—

"विचित्रपत्राङ्कुरशालिबाला-स्तनान्तरं यामि वनान्तरं वा ।
अपास्य वृन्दावनपादलास्यमुपास्यमन्यन्न विलोकयामि" ।

तटस्थरूपेण स्वपुंस्त्वभावनाया अयोगेन मानसी वाचिकी कायकीति त्रिधा सेवा यथा—

"यया बृन्दावने जन्तुरनर्होऽप्येष वास्यते ।
तयैव कृपया नाथौ सिद्धिं कुरुतमीप्सितम् ।।"

तटस्थरूपेण श्रीकृष्णे ऐश्यभावनाया योगेन मानसी वाचिकी कायिकीति त्रिधा सेवा यथा—

"वैकुण्ठादपि सोदरात्मजवृता द्वारावती सा प्रिया
यत्र श्रीशतनिन्दि-पट्टमहिषीबृन्दैः प्रभुः खेलति ।
प्रेमक्षेत्रमसौ ततोऽपि मथुरा श्रेष्ठा हरेर्जन्मतो
यत्र श्रीब्रज एव राजतितरां तामेव नित्यं भजे" ।।

तटस्थरूपेण स्वपुंस्त्वभावना-श्रीकृष्णैश्यभावनायोगेन मानसी वाचिकी कायिकीति त्रिधा सेवा यथा—

"प्रपद्य भवदीयतां कलितनिर्म्मलप्रेमभि-
र्महद्भिरपि काम्यते किमपि यत्र तार्णं जनुः ।
कृतात्र कुजनैरपि ब्रजवने स्थितिर्मे यथा
कृपां कृपणगामिनीं सदसि नौमि तामेव वाम्" ।।

ऐश्यभावनया पूर्वा वैध्य-सेवा मता हि षट् ।
इष्टसम्पादकत्वेन कृता वैध्या द्विषट् पराः ।।
आस्वष्टादशवैधीषु त्रिकषट्क विचार्य्यते ।
त्रिकाणां तृतीयादीनामेकेनापि मधोः पुरीम् ।।

आख्या-द्वितीययोरेकतरेण द्वारकामियात् ।
त्रिकयोः शवलेनापि किं तृतीयादिभिः पुनः ॥
मिश्रितेन त्रिकैः कृष्णवैकुण्ठं केवलात्तु तैः ।
किं पुनर्मिश्रितादौ तु द्वितीयाद्यत्रिकद्वयात् ॥
लोकापेक्षा-कृतं यत्तच्छास्त्रशासनमलकम् ।
यदशास्त्रीयकृद्लोकापेक्षा नैव प्रजायते ॥
अभावं साधकत्वेन व्यूहत्वं रूपयोर्द्वयोः ।
जाते प्रेम्नि प्रकाशत्वं सिद्धत्वेन तयोर्भवेत् ॥
भावनामयरूपस्य द्विधा योगो निगद्यते ।
यथास्थिततेन देहेन तत्स्फूर्त्यारोपयुग्मतः ।
यथास्थिततस्य देहस्य स्फूर्त्तावसमरूपयोः ॥
वाधितं साधकं रूपं नहि स्यात् सेवयोः क्वचित् ।
आरोपे चेद्वाह्यदशा तदा स्फूर्त्तौ दशात्रयम् ।
आरोपेऽर्द्धवाह्यदशा चेत्तदादि द्वयं तदा ॥
स्फूर्त्तावन्तर्दशारोपे चेत् स्फूर्त्तौ सैव स्यात्तदा ।
स्फूर्त्तिः स्यात् सिद्धरूपेण प्रवृत्तावपि सेवने ॥
आरोपे या दशा यस्य स्थायिनी तस्य सा दशा ।
प्रातिलोम्येन विज्ञेया हेतोः पातात्तटस्थता ।"

स्थायिदशा-तटस्थतयोर्मध्ये अन्यदशासद्भावेऽपि लाघवान्न तद्विवक्षा। वाह्यार्द्धवाह्यदशयोरवान्तरभेदसद्भावेऽपि न तद्विवक्षा प्रसिद्धाभावात् ।

"सिद्धरूपकृतासेवा मानस्यां तदभावतः ।
आश्रयस्या विनाभावात् सेवायां साधके पतेत् ॥
रूपे चन्द्रादिवद्दर्घ्न द्वारकादिपदप्रदा ।
सर्वथा व्रजलोकानुसारस्य व्यतिरेकतः ॥" इति ॥

अवस्था-देहादिकं भावनामयं सर्वं मिथ्याभूतम्, जीवस्य तस्मिन्नध्यासो नास्ति यथान्यस्यावस्था देहादिके। अतोऽभिमानोऽपि तस्मिन्नास्ति यथान्यस्यावस्था देहादिके। यदि भावनामयी अवस्था सत्या तदा भावनामयदेहः कथं न सत्यः। यदि भावनामय्यामवस्थायामध्यासोऽभिमानश्च जायते तदा भावनामये देहे स च कथं न जायेत। यदि स्वप्नमनोरथयोर्मनोमयेऽपि देहे आवेशजाभिमान इव भावमय्यामवस्थायामावेशजाभिमानो जायेत तदा स एव भावनामयदेहे कथं न जायेत। यदि भावनामय्या अवस्थायाः सत्यत्वेनात्मान्वयस्तदा भावनामयदेहस्यापि कथं न तेन तदन्वयः इति। स्वपुंस्त्वभावनायोगायोगाभ्यां तटस्थरूपेण पूर्वाया षड्विधा सेवा, तया सिद्धरूपेऽभिमानस्योत्कर्षं साध्यते। तटस्थरूपेण पराया षड्विधा सेवा, तया यथास्थितदेहे बाधिताभिमानस्य नाशः साध्यते। पूर्वाभिमानश्चिच्छक्तिवृत्तिरूपः परोऽभिमानो मायावृत्तिरूपः पूर्वस्य साध्यत्वात् परस्य नाश्यत्वात्। अतश्च साधूक्तं पतेत् कामानुगां प्रतीति। व्रजभावेनरानर्थनिवृत्त्यादिकमन्यत् इति च। अत्र प्रयोगः-सिद्धरूपमात्मवत् त्रिविध-सेवा सम्पादितत्वात्। सिद्धसाधकगत आत्मा एकः, सिद्धरूपगतहर्षादेः साधकरूपे उदयात्। अभिमानः सिद्धसाधकरूपगत एकः, आत्मनस्तदुभयान्वयात्। "आरोपे साधके रूपे सिद्धरूपगतस्य हि। अभिमानस्य विज्ञेयः प्रकाशो न भिदा ततः। चातुष्पादिकता तस्याऽन्यथात्वेन न सिध्यते"॥ अथ तटस्थरूपगतविचारः—

"आत्मा देहात् पृथग्भूतो वृक्षात् पक्षी यथा भवेत्।
अभावमभिमानोऽस्मिन् बाधितोप्यात्मनो भवेत्।
सोऽस्या स्फूर्त्तौ प्रलीनः स्यात् स्फूर्त्तावुद्बुद्धतां व्रजेत्।
अभिमानोऽत्र यावत् स्याद्देहोऽयं तावदात्मनः।
तस्मादनेन देहेन नान्यत् कुर्य्यात् कदाचन।

रागानुगा पोषका द्वे सिद्धान्तकथनादित" इति। ताटस्थ्यं द्विधा स्थूलं सूक्ष्ममिति। तद्द्विविधं पुनः प्रत्येकं त्रिधा। वृहन्मध्यमलघ्विति। वाह्यदशायां साधकरूपे सूक्ष्मं ताटस्थ्यं वृहत्, तटस्थरूपे स्थूलं ताटस्थ्य वृहत्। अन्तर्वाह्यदशायां साधकरूपे सूक्ष्मं ताटस्थ्यं मध्यमं तटस्थरूपे स्थूलं ताटस्थ्यं मध्यमं, अन्तर्दशायां सूक्ष्मं साधकरूपे तटस्थरूपे स्थूलं ताटस्थ्यं लघु। अभिमानस्त्रिधा वृहन्मध्यमो लघुरिति। वाह्य-दशायां सत्यां सिद्धरूपेऽभिमानो लघुः, तटस्थरूपेऽभिमानो वृहत्, अर्द्धबाह्यदशायां सिद्धरूपेऽभिमानो मध्यमः, तटस्टरूपेऽभिमानो मध्यमः;अन्तर्दशायां सिद्धरूपेऽभिमानो वृहत्, तटस्थरूपेऽभिमानो लघुः, केवलान्तर्दशायां सिद्धरूपेऽभिमानोऽतिवृहत्। एवं साधक-रूपेऽभिमानश्चिच्छक्तिवृत्तिरूपः स च वाह्यदशादिषु सिद्धरूप इव लघ्वादिरूपः। केवलबाह्यदशायां यथास्थितदेहेऽभिमानोऽति-वृहत्। स्थायिना दशा चेत् कनिष्ठा तदान्या दशा कनिष्ठा, स्थायिनी दशा चेन्मध्यमा तदान्या दशा मध्यमा, स्थायिनी चेदुत्तमा तदान्या दशोत्तमा। अभिमानयोः प्राकृतत्वाप्राकृतत्वा-भ्यां तटस्थरूपस्य साधकरूपं नावस्था किन्तु देहान्तरम्। "यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः। तथा दिक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणामि"ति वचनाद्वैष्णवमन्त्रग्रहणेन देहा-न्तरं स्यान्नतु पूर्वदेहस्य मृदो घट इव देहस्य बाल्यादिरिवा-वस्था। अन्यथा वर्णाश्रमसत्वेन तत्तद्धर्माधिकारादतएव तदकरणे प्रत्यवायापाताच्च। यथा साधकरूपेण क्रियमाणा 'सेवा अन्यैर्जनै-र्यथास्थितदेहेन क्रियमाणा प्रतीयते तथा वर्णाश्रम--रहितेन देहेन क्रियमाणा सेवा अन्यैर्जनैर्वर्णाश्रमवता देहेन क्रियमाणा प्रतीयत इति

साधकरूप-यथास्थितदेहयोर्द्वयोरप्यन्वयसिद्धत्वं, यथा लोभ-सद्भावेनाधिकारित्वसत्वेऽपि भावनामय— देहारोपापगमात्

साधकरूपं पुनस्तटस्थतया पुनर्देहान्तरतां प्राप्नोति, तथा श्रद्धा सद्भावेनाधिकारित्वसत्वेऽपि पुनर्वर्णाश्रमधर्माचरणाद् गृहीत-भगवन्मन्त्रादिरपि देहः पुनर्देहान्तरतां प्राप्नोति अतएव साधक-रूपतचिरादि पृथाक् यथैकादशे-

"गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेदि"त्यत्र

चित्तादेस्त्याज्यत्वेन वर्णितत्वाच्च ॥

शास्त्रीयं कर्म शास्त्रीया वैधी रागानुगा तथा। कर्माधिकारी शास्त्रीय कर्त्ता, तत्करणे यथा । वैधभक्त्यधिकारी तत् कृतौ शास्त्रीयकृद्-यथा। रागानुगाधिकारी तत् कृतौ शास्त्रीयकृत्तथा"॥ रागानुगाया प्रभेदरूपत्वात् सम्बन्धानुगाकामानुगे शास्त्रीये । यथा सम्वन्धानुगा अकरणे कामानुगा-भक्तोऽशास्त्रीयकृन्न भवति, यथा कामानुगाया अकरणे सम्बन्धानुगाभक्तोऽशास्त्रीयकृन्न भवति, तथा वैधभक्त्यकरणे रागानुगाभक्तोऽशास्त्रीयकृन्न भवति । अतएव अपि त्यक्त्वा लक्ष्मीपतिरतिमितो व्योमनयनीमि"ति अधिकारी न लुब्धश्चेद्भक्ति रागानुगा भवेत् । "भक्ति रागानुगा न स्यात् लुब्धश्चेदधिकारवान् । व्रजभावस्तदा न स्यात्तद्द्वये सति स्यात् स हि" ॥ अतएव स्वे स्वेऽधिकार इत्यादि रागानुगायाः शास्त्रीयत्वं शास्त्रीयायास्त्रि-विधाया भक्तेः प्रभेदरूपायाः साधनभक्तेः प्रभेदरूपत्वात् ।

"लक्षणाव्यतिरेकेण वैधभक्त्यधिकारिणः ॥
लोभः साधनगो रागानुगाधिकारिणो भवेत् ।
भावनामयरूपस्यारोपेणाक्षिप्यते बलात् ॥
देशकालादिगारोपः स्वसिद्धयर्थं सुनिश्चितम् ।

भावनामयरूपेणारोप्यमाणेन मानसी ।
सेवाया क्रियते तस्यां कुण्डवासादि सिद्धयति ।
प्रेमवाह्यदशा सिद्धरूपे या स्थायिनी नहि ।
जाते प्रेम्नि स्थायिनी, सा केवलान्तर्दशा मता ।"

यथा प्रीतादि--रसेऽन्यरसानुभावसाधारणा अनुभावाः स्थायिवैशिष्ट्यं ज्ञापकाः सन्तः स्ववैशिष्ट्यं. ज्ञापयन्ति अन्यथा तेषामनुभावत्वं न सिध्यति । एवं "श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु । यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभि" रित्यत्र श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि रागानुगात्वरूपवैशिष्ट्यं ज्ञापकानि सन्ति स्ववैशिष्ट्यं ज्ञापयन्ति । अन्यथा तेषां रागानुगाङ्गिता न सिध्यति । रागानुगागतश्रवणोत्कीर्त्तनादिषु तेषां वैधभक्तिगतश्रवणोत्कीर्त्तनादीनां साधारण्यं यान्यधिकारिणोऽलुब्धत्वेन वैधभक्त्युदितानि तु । कर्मवैधभक्तिव्यतिरेकसिद्धं न । यथा मन्त्रतस्तन्त्रत इत्यादि । वैधभक्तिः व्यतिरेकसिद्धा यथा तावत् कर्म्माणीत्यादि । वैधभक्तिर्न रागानुगाव्यतिरेकसिद्धा यथा "श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि"त्वत्यादि । एतत्तु "यत्र रागानवाप्तत्वादित्यादेः" । अत्र यत्रेति सामान्यतया निर्देशो वैधभक्तेः रागानुगाव्यतिरेकासिद्धत्वात् । रागनुगाव्यतिरेकसिद्धा यथा-सेवासाधकरूपेणेत्यदि । एतत्तु "रागात्मिकामनुसृते"त्यादेः। अत्र रागात्मिकामनुसृतेति विशेषतया निर्देशो रागानुगायाः वैधीभक्तिव्यतिरेकसिद्धत्वात् । तच्च सामान्यनिर्देशतो विशेषनिर्देशस्य बलवत्वात् । रागानुगायाः "यत्र प्रवृत्तिर्लोभेन भक्तिरागानुगा लक्षणा चेदभविष्यत्तदा वैधभक्तिव्यतिरेकसिद्धा हि सेत्येवं" नाभविष्यदिति ।

"श्रुत्या चात्रानुमानेन यत् प्रत्यक्षं विरुध्यते ।
ऐतिह्यञ्च क्वचित्तत्र भावो ज्ञेयः सुबुद्धिभिः ।

पुराणे श्रूयते पाद्मे कश्चित् कुरुपुरीस्थितः।
नन्दसूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन्।

नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद्वृद्धवर्द्धकि' रित्यत्र तत्रेति नन्दसूनोरधिष्ठानमिति च साधकरूपमायातम्, पुत्रतयेति तत्र वर्द्धकौ श्रीव्रजेश्वर्य्या भावानुकरणमायातम्, भजन्निति तत्र व्रजेश्वर्य्याश्चेष्टानुकरणमायातम्। आद्यां तत्र वर्द्धकित्वानुपयुक्तत्वाद्गोपजातित्वारोप आक्षिप्यते। अनेन पूर्वास्यां च तत्र भावनामय्याः श्रीव्रजेश्वर्य्या अनुरागायागुणादेहारोप आक्षिप्यते। भाव-क्रिया-जाति--गुण-द्रव्यानुकरणानां परस्परसापेक्षत्वात्। नारदस्योपदेशेनेति अस्य नारदस्य सिद्धत्वादेव वर्द्धकौ लोभो जातः। तेनाधिकारित्वमायातम्।

"अवीक्ष्यात्मेश्वरीं काचिद्वृन्दावनमहेश्वरीम्।
तत्पदाम्भोजमात्रैकगतिर्दास्यति कातरा॥
पतिता तत्सरस्तीरे रुदत्यार्त्तरवाकुलम्।
तच्छ्रीवक्त्रेक्षणावाप्त्यै नामान्येतानि संजगा" वित्यत्र

'पतिता तत्सरस्तीरे' इति 'दासीति' च साधकायमानत्वेन साधकरूपमायातम्। "याते कञ्चुलि" रित्यत्र या केवलान्तर्दशा तस्या अभावात् "परित्यक्तः प्रेयोजनसमुदयै' रित्यत्र या केवलवाह्यदशा तस्या अभावाच्च। केवलवाह्यदशानां प्रेमसान्निध्यकेवलान्तर्दशासान्निध्यस्वरूपापकर्षकालस्वल्पत्वाधिक्यादिनोत्तमत्वादि। केवलान्तर्दशानां प्रेमसान्निध्यप्रातिलोम्यगतकेवलवाह्यदशा दूरत्वस्वरूपोत्कर्षवहुकालव्यापित्वाधिक्यादिनोत्तमत्वादि। आरोपितवाह्यदशार्द्धवाह्यदशान्तर्दशागतान्तर्दशानां प्रेमसान्निध्यकेवलान्तदशासान्निध्यस्वरूपोत्कर्षवहुकालव्यापित्वाधिक्यादिनोत्तमत्वादि। स्फूर्त्तिगतवाह्यार्द्धवाह्यदशा-

न्तर्दशागतान्तर्दशानां प्रेमसान्निध्यकेवलान्तर्दशासान्निध्य कालाल्पत्वादिनोत्तमत्वादि ॥

व्याख्या रिरंसामित्यादि पदद्वयस्यात्र सुबुद्धिभिः ।
सन्देहोच्छित्तये दृश्या श्रीमुकुन्दविनिर्म्मिता ।

सा व्याख्या यथा—

"रिरंसां श्रीनन्दनन्दनसुखार्थं रमणेच्छां सुष्ठु कुर्व्वन्नित्यनेन सिद्धरूपेण रागानुगाया ब्रजे सेवा सुष्ठु दर्शिता, वधिमार्गेणेति साधकरूपेण वैधभक्त्या चेति केवलेनेति रागानुगाभिश्रेण चेत्यादा मथुरायां महिषीत्वमितिभावः । अभिलाषे सत्यपि यथोचितसाधनेनैव तत्प्राप्तिरितिदर्शितम् । 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललना चरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रतेति'। वाञ्छन्ति यद्भवभियं मुनयो वयञ्चेत्यादिभिस्तद्वाञ्छायां सत्यामपि तदप्राप्तिः साधनवैषम्यादेवेति।" अत्र रिरंसां कुर्व्वन्नित्यधिकारिणो लुब्धत्वमायातम् । सुष्ठु ब्रजलोकानुसारं यथा स्यादिति । वैधभक्त्या चेत्यत्र वैधभक्त्या सेवा दर्शितेति पूर्व्वेणान्वयः । मथुरायां महिषीत्वमित्यस्य यादिति श्लोकगतक्रिययान्वयः । केवलेन विधिमार्गेणेति रागानुगामिश्रणेन विधिमार्गेणेति व्यतिरेको विना श्रीब्रजप्राप्तिर्दर्शिता । एताभ्यां व्यतिरेकाभ्यां सुष्ठुत्वस्य व्यतिरेकेण च गोलोकप्राप्तिः सूचिता पूर्व्वं लिखितत्वात् पुनरुक्तिभिया न दर्शिता । अत्राधिकारगतव्यतिरेकस्याविवक्षेति स न दर्शित इति ।

रागानुगाविवृत्तिर्या कृता पूर्व्वं पुनर्मया ।
तस्याः प्रव्यक्तये किञ्चिद्व्याख्यानमनुष्ठितमिति ॥
श्रीमुकुन्दकृते श्रीमद्रूपग्रन्थार्थनिश्चये ।
मतिर्यात् कृपया मे स श्रीकृष्णचरणो गतिः ॥

तटस्थरूपेऽभिमानोऽप्राकृतो न व्यतिरेकसिद्धः, वाधित-

प्राकृताभिमानान्वयात् । साधकरूपेऽभिमानोऽप्राकृतोऽपि न व्यतिरेकसिद्धः वाधिताप्राकृताभिमानान्वयात् । अभिमानस्य वाधितत्वादिविषयस्य वाधितत्वादेः, सिद्धरूपेऽभिमानोऽप्राकृतो व्यतिरेकसिद्धः' वाधिताप्राकृताभिमानान्वयाभावात् । केवलवाह्यदशायां वाधितप्राकृतवाधिताप्राकृतरूपावान्तरभेदद्वयविशिष्ट-यथास्थितरूपगताभिमानश्चातुष्पादिकः, वाधितप्राकृताभिमान-विषयाऽस्फूर्त्तेः, वाह्यदशायां वाधितप्राकृताभिमानविषयास्फुरणा-द्वाधिताप्राकृताभिमानास्त्रिपादात्मा अर्द्धवाह्यदशायां तस्मादेव पूर्वतः स्वल्पत्वाच्च वाधिताप्राकृताभिमानो द्विपादात्मा, अन्तर्दशायां तस्मादेव पूर्वतः स्वल्पत्वाच्च वाधिताप्राकृताप्राकृताभिमानः पादात्मा । वाह्यदशायां वाधिताप्राकृताभिमानस्य वाहुल्यादवाधिताप्राकृताभिमानविशेषस्याल्पत्वम् । अर्द्धवाह्य-दशायां वाधिताप्राकृताभिमानस्य मध्यमत्वादवाधिताप्राकृता-भिमानविशेषस्य वाहुल्यम् । सत्वस्य वाधितत्वे शुद्धसत्वस्य प्राधान्यम् । शुद्धसत्वस्य वाधितत्वे शुद्धसत्वविशेषस्य प्राधान्यम् । अतएव शुद्धसत्वप्राधान्येन तटस्थस्वरूपम् । शुद्धसत्व विशेषस्य प्राधान्ये साधकत्वम् । केवलशुद्धसत्वविशेषरूपत्वेन सिद्धरूपम् अतएव स्थूलं ताटस्थं वाधितं प्राकृतं सूक्ष्मं ताटस्थ्यं-यथा साधकरूपं क्वचिन्न जहाति तथा वाधि स्थूलं ताटस्थ्यं तटस्थरूपं क्वचिन्न जहाति । अतएव तटस्थरूपेऽभिमानस्य प्राकृतत्वमप्राकृतावाधिताभिमानांशा विवक्षया । किन्तु तटस्थरूपं स्वर्णस्थानीयम् । स्पर्शमणिस्थानीयावाधिताप्राकृताभिमानयोगात् साधकरूपं रत्नस्थानीयम् । ततोऽप्यधिकावाधिताप्राकृताभिमान-विशेषयोगात् । तटस्थरूपे वाधिताभिमानांशसद्भावान्न सदास्वरूप-संप्राप्तत्वरूपगुणांशः । यथा—"ये सत्यवाक्य इत्याद्या ह्रीमानि-त्यन्तिमा गुणाः । प्रोक्ताः कृष्णेऽस्य भक्तेषु ते विज्ञेया मनीषिभिः

साधकरूपे तत्तदंशाभावात्तदंशसद्भावः। यथा बुद्धिस्तदाश्रयेत्यत्र बुद्धेस्तदाश्रयत्वम्। वाधितप्राकृताभिमानविषयास्फूर्त्तेः। अभिमानस्य वाधितत्वेनैव ताटस्थस्य वाधितत्वम्। अभिमानस्य प्राकृतत्वेनैव ताटस्थस्य प्राकृतत्वम्। अवाधितसूक्ष्मताटस्थ्य वाधितस्थूलताटस्थ्यसम्पर्केणैव स्थूलशब्दवाच्यम्। 'दशा चतुष्टयं चेत् स्यात् स्फूर्त्यारोपौ विना क्वचित्। वाह्यादिवाधितं रूपं तटस्थं न तदा भवेत्'। रागानुगातटस्थलक्षणं रागानुगाधिकारिलक्षणगतम्। रागानुगास्वरूपलक्षणं रागानुगालक्षणगतम्। वैधभक्तेः स्वरूपलक्षणं सामान्य-साधनभक्तिगतम्। वैधभक्तेः तटस्थलक्षणं वैधभक्त्यधिकारिलक्षणगतम्। वैधभक्तिलक्षणे तु तत्तदनुवादमात्रम्। स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणे मिथः सापेक्षे। यथान्याभिलाषितेत्यत्र सामान्योत्तमभक्तेः विधेयत्वात्। स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणे मिथः सापेक्षे। वैधीरागानुगे विधेये। वैधीरागानुगयोस्तटस्थलक्षणविपर्य्यये वैधी स्वरूपं न त्यजति अन्वयसिद्धत्वात्। रागानुगा तु रागानुगा नहीति स्वरूपं हित्वा आभासत्वं प्राप्नोति व्यतिरेकसिद्धत्वात्। यथा सामान्योत्तमभक्तेस्तटस्थलक्षणान्यथात्वे भक्ति र्नहीति स्वरूपं विहाय आभासत्वं प्राप्नोति व्यतिरेकसिद्धत्वात्। यथा सामान्योत्तमभक्ते-र्व्यतिरेकसिद्धत्वात्। सामान्योत्तम-भक्तेः स्वरूपलक्षणसद्भावेऽपि तटस्थलक्षणाभावेन तत् प्रभेदरूपस्य भावस्य "मुमुक्षुप्रभृतीनाञ्चेद्भवेदेशा रतिर्नहि" इति स्वरूपत्यागेनाभासत्वम्। एवं सामान्योत्तमभक्तेर्व्यतिरेकसिद्धत्वात्। सामान्योत्तमभक्तेः स्वरूपलक्षणसद्भावेऽपि तटस्थलक्षणाभावेन तत्प्रभेदरूपायाः साधनभक्तेर्मुमुक्षुप्रभृतीनाञ्चेद्भवेदेषा साधना-भक्तिर्नहीति स्वरूपत्यागेनाभासत्वं न्याय्यम्। अतएव सामान्यभक्तेरुत्तमेति विशेषणोपादानं तटस्थलक्षणाभावप्राप्ताभासत्वापेक्षया। भक्तिरुत्तमा भक्त्याभासोऽनुत्तम इति, अन्यथा सर्व्वोपाधीति पदद्वयगत-

विधेयार्थतुल्यताभावेनास्य पदस्याप्रामाण्यापत्तेः पूर्वं रागानुगा-लक्षणं स्फुटत्वातिशयार्थं वैधभक्तेरेकदेशप्रदर्शनेन व्यतिरेकसि-द्धत्वमङ्गीकृत्य 'यत्र रागानवाप्तत्वादित्यत्र रागशब्दस्य व्याख्या-विशेषो दर्शितः। पश्चाद्रागानुगाव्यतिरेकसिद्धत्वनिष्पत्तये वैधभ-क्तेः सम्यक्तया प्रदर्शनेन तस्यान्वयसिद्धत्वं प्रदर्श्य व्याख्याविशेषो दर्शितः स च रागाल्लोभादिति। यदा वैधी रागानुगातः स्वरूपलक्ष-णतटस्थलक्षणाभ्यांभिन्नः तदा व्यतिरेकसिद्धा। यदा स्वरूपलक्ष-णेन वा तटस्थलक्षणेन वाऽभिन्ना तदाऽन्वयसिद्धा। अतएव वैधभक्तेः पृथक्त्वं सांघातिकश्चायातम्। सर्वोपाधीत्यादौ वैधभक्तेः किमुत रागानुगाभक्तेर्ज्ञानकर्म्मव्यतिरेकसिद्धत्वम्। "कृष्णं स्मरन्नित्यादौ निजसमीहितं कृष्ण----तत्प्रेष्ठजनान्यस्मरणकीर्त्तनश्रवणानि श्रीव्रजेतरस्थानवासश्च तटस्थरूपेणेत्यायातः। तेन रागानुगाया वैधीव्यतिरेकसिद्धत्वमायातम्। या ते कञ्चुलिरित्यादौ केवलान्त-र्दशायां यथास्थिततदेहस्फूर्त्त्यभावेन सिद्धरूपस्य तत्व्यतिरेकसिद्ध-त्वम्। किञ्च "ईश्वरे तदधीनेष्वि' त्यादौ तटस्थरूपगतवाधिताभि-मानांशसाधकरूपगतवाधिताभिमानांशसद्भावेनान्वयसिद्धत्वात्सा धकभक्तत्वम्। सर्वभूतेष्वित्यादौ तत्तदंशाभावेन व्यतिरेकसिद्धत्वात् सिद्धभक्तत्वं पूर्वत्र तदधीनेषु मैत्री साधकरूपगतवाधिताभिमानां-शसद्भावात्। वालिशेषु कृपा द्विषत्सूपेक्षा तटस्थरूपगतवाधिता-भिमानांशसद्भावात् परत्र सर्वभूतेषु भगवद्भावमिति तत्तदंशा-भावात्। तदधीनेषु भगवद्भावलोकनं तत्र प्रेमोत्पत्तेः सा च श्रीकृष्णे प्रेमोत्पत्तेः। प्रेममैत्रीत्यत्र प्रेमशब्देन भाव उच्येत। वालिशेषु द्विषत्सु च भगवद्भावावलोकनं। भगवद्भगवत् परिकरा न्याननुसन्धानात्। तच्च जातप्रेमत्वेन सदा केवलान्तर्दशा सद्भावात्। अतएव भगवद्भावोऽत्र भगवत्प्रेमा तदवलोकनं। तज्जातकेवलान्तर्दशानुरूपविलोकनात्। अतएव भूतानि भगवती-

त्यादि। अनिर्वचनीयभाग्यातिशयाज्जातश्रद्धाहेतुकवैधभक्तिचन्द्रकान्त्युदयपूर्वकृत— धर्म्मादितिमिरपराभवहेतुकतदपगमांशेनापि वैधभक्तेः कर्मज्ञानादिव्यतिरेकसिद्धत्वम्। यथा कृष्णतद्भक्तकारुण्यलाभमात्रैकहेतुकरागानुगासूर्य्यकान्त्युदयहेतुकपूर्वकृतवैधभक्तिरजन्यपगमांशेनापि रागानुगाया वैधभक्तिव्यतिरेकसिद्धत्वम्। तथा श्रद्धाहेतुकगुरुपादाश्रयस्य रजनीस्थानीयत्वम्। कृष्णतद्भक्तकारण्यलाभमात्रैकहेतुकगुरुपादाश्रयस्य सूर्य्यकान्तिस्थानीयत्वम्। प्रारब्धकृतं स्थूलशरीरं अनाद्यविद्याकृतं लिङ्गशरीरं श्रद्धालोभैकतरहेतुक श्रीगुरुपादाश्रयमात्रेण पूर्वं नश्यति परं प्रेमोत्पत्त्या सम्यङ् नश्यति। तत्पूर्वत्र क्रमेण ह्रासं प्राप्नोति। पूर्वनाशे देहान्तरं परनाशे पुनर्देहान्तरं रागानुगायां सिद्धरूपायाजातप्रेमत्वेन सिद्धायमानत्वात्।

तटस्थरूपस्य च पोषकत्वेऽपि साक्षादिष्टप्रापकत्वाभावात्। तयोरविवक्षया पूर्वं देहान्तरमेकं। अतएवास्य साधकत्वेन भक्तानां साधकाः सिद्धा इति भेदद्वयम्। श्रीकृष्णतद्भक्तकारुण्यलाभमात्रैक हेतुकश्रीगुरुपदाश्रयस्य पूर्वकृतवैधभक्त्यपगमकत्वेऽपि यदविद्या अनिर्वर्त्तित्वं तत्फलरूपप्रेमोत्कर्षख्यापनार्थम्। अविद्यानाशया प्रेम्नैव सम्यग्जायते न तु साधनेनेति किन्तु अविद्याया वाधितत्वेन तटस्थरूपगतया रागानुगाया तद्व्यतिरेकसिद्धत्वं दर्शितमेव। प्रयोगः—जातभावोऽपि भक्तः साधकः सूक्ष्मताटस्थ्यांशसद्भावात्। एवं जातान्तर्दशमपि रूपं साधकं सूक्ष्मताटस्थ्यांशसद् भावात्। केवलान्तर्दशायामन्तर्दशागतभावनायास्तिरोधानात् भावनामयसिद्धरूपस्य तद्व्यतिकरसिद्धत्वम् यथा ज्ञानमयकैवल्यस्य ज्ञाननाशान्निर्गुणत्वम् स्फूर्त्तौ भावनाया उपादानत्वम्, केवलान्तर्दशायां भावनाया उपादानत्वं निमित्तत्वञ्च। पूर्वत्र तत्प्रकृतवचेन मयट्। मयडर्थस्याऽमूर्त्तत्वं परत्र तद्विकारे तत्प्राधान्ये च मयट् तद्विकारस्याऽमूर्त्तत्वेन तत्तु श्रीनन्दनन्दनाचिन्त्य शक्त्या। तत्प्राधान्यं तन्निमित्तत्वेन निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽ

भाव इतिन्यायप्राप्तेरन्तर्दशागतभावनाया अनुदयेन सिद्धरुपगत चेष्टादेरनुदयात् सिद्धरूपस्य मूर्त्तत्वेऽपि असाक्षाद्रूपत्वम् । सिद्धरूपस्य व्यतिरेकसिद्धत्वेऽपि रसालायां वस्तुद्वयस्येव साधकरूपेण सह समवेतत्वं नन्दनन्दनाचिन्त्यशक्त्या । 'अमुकस्य सुतोऽहं स्यां भ्राताहममुकस्य च । सुतो मेऽमुक इत्यादघभिमानः प्राकृतः स्मृतः ।। अमुकस्य सेवकोऽहं सतीर्थो मेऽमुकः किल । शिष्यो मेऽमुक इत्यादघोऽभिमानोऽप्राकृतः स्मृतः ।। मञ्जर्य्या अनुगाऽमुष्या अहं मे मञ्जरीत्वसौ सखी ममानुगा चासावित्यादिः प्राकृतेतरः ।। अभिमानविशेषोऽयं साध्यः पूर्वौ हि वाधितौ' । श्रीचन्द्रकान्तिः कामानुगीयभावप्रेम्णोरुदाहृता न तु कामानुगायाम् । सम्भोगेच्छामय्याः कामानुगायाः प्रदर्शिकायास्तस्याः कामानुगामुख्यप्रभेदरूपायां तत्तद्भावेच्छात्मिकायामनुसारस्याविवक्षितत्वात् । तस्याः कामानुगीयभावे उदाहरणं यथा-द्वितीयो यथा पाद्मे—

"इत्थं मनोरथं बाला कुर्व्वती नृत्य उत्सुका ।
हरिप्रीत्या च सर्व्वां तां रात्रिमेवेत्यवाहयत् ।।"

तस्याः कामानुगीयप्रेम्नि उदाहरणं यथा—
रागानुगीयभावोत्थो यथा पाद्मे—

"न पतिं कामयेत् कञ्चिद्ब्रह्मचर्य्यस्थिता सदा ।
तामेव मूर्त्तिं ध्यायन्ती चन्द्रकान्तिर्वरानना ।।
श्रीकृष्णगाथां गायन्ती रोमाञ्चोद्भेदलक्षणा ।
अस्मिन्मन्वन्तरे स्निग्धा श्रीकृष्णप्रियवार्त्तया" इति ।

श्रीमूर्त्तिमाधुरीदर्शनेन जातलोभत्वादस्याः सम्भोगेच्छामयीत्यर्थ रत्नाल्पदीपिका । प्रवोधनी निशानृत्यमाहात्म्यभरदर्शनी"त्यत्र नृत्यं साधकरूपकृतं रागानुगाङ्गं रासनृत्यानुकारित्वात् । तच्च "वल्लीष्वन्यासु नारीषु मय्येवाधिकप्रीतिमान् । नृत्यतासौ मया सार्द्धं कण्ठाश्लेषादिभावकृदि"त्यादिमनोरथद्योतितः सिद्धरूप-

कृतरासादिनृत्यत्वात्। एतच्च सिद्धसाधकरूपयोर्वीणावैणव-तुल्यत्वात्। सिद्धरूपगतत्रिविधरागानुगोदये साधकरूपगतरागा-नुगामयभावनामयनिमित्तत्वात्। सिद्धरूपेण रागानुगा चेत्तदा साधकरूपेण मानसीसेवा रागानुगा स्यात्। अतएव सत्य साधकरूपगतवाचिककायिकवैध्यंशाऽसम्भवेऽपि रिरंसामित्यत्रां केवलेनेति साधकरूपगत-वाचिक-कायिक-लोकापेक्षाकृत वैध्यं-शाऽन्याऽमिश्रणाऽपेक्षया। इयं मानसी रागानुगा स्फूर्त्तिरूपा। केवलेनेति व्यतिरेकप्रदर्शनगतसिद्धरूपगतस्फूर्तिः सिद्धरूपान्तर्भा-वात्तदमिश्रणाऽपेक्षया। मिश्रणं तु लोकापेक्षाकृतत्रिविधवैध्यं-शस्य च तत्समवेतायाः केवलाया वा स्वेष्टसम्पादकत्वेन कृतायास्तटस्थरूपकृतसेवायाश्च मिश्रणे सति साधकरूपकृतराग-नुगायाः प्राधान्येऽप्यप्रधानतया मिलनं मिश्रणंतु लोकापेक्षाकृत-वैध्यंशनाशे सति साधकरूपगतशुद्धरागानुगायां सत्यां तटस्थ-रूपाचरणांशस्य वैशिष्ट्ये सति तयोर्मिलनं साधकरूपेण रागानुगासिद्धरूपेण वैधीतिव्यतिरेकप्रदर्शनं स्थूलदृष्ट्या न तु सूक्ष्मदृष्ट्या। साधकरूपगतमानस्याः सेवाया वैधीत्वं विना सिद्धरूपेण सेवाया वैधीत्वं न स्यात्। अस्याः साधकरूपगतभाव-नानुरूपत्वात्। आश्रयस्य विनाभावादित्युक्तन्यायेन सिद्धरूपेण वैध्यां सत्यां साधकरूपगतमानसीसेवा वैधी स्यादेव। साधक-रूपेण मानस्यां सेवायां वैध्यां सत्यां तद्गतकायिकवाचिकरागा-नुगाप्रभेदयोर्दुघटत्वम्। अतएवास्वष्टादशवैधीषु इत्यष्टादशसंख्या स्वष्टादशवैधीष्वोका वैधी चेद्व्रजप्राप्तिर्नास्तीति सर्वथा व्रजलोका-नुसार एव कर्त्तव्य इति विज्ञापनप्रयोजना। अष्टादशानां प्रत्येक-व्यतिरेकासिद्धत्वस्य दुर्घटत्वात् तटस्थरूपाचरणस्य रागानुगातो भिन्नत्वेऽपि यद्रागानुगाव्यतिरेकप्रदर्शनं वैधीगतं तत्तु तटस्थ-रूपाचरणस्य रागानुगापोषकत्वात् यत्र रागानवाप्तत्वादित्यत्र

रागशब्दस्याथद्वयं दर्शितं । तत् श्रीनन्दनन्दनतद्भक्तकारुण्यलब्ध-मिति ज्ञेयम् । अतस्तेन क्रमेण लोभ-व्रजलोकानुसारावाक्षिप्येत ।

यथा वैणिकगां गीतिं विना वीणाभवा न सा ।
तथा साधकरूपस्थां बिना रागानुगा न सा ।।
सिद्धरूपगता ह्यत्र सन्देहो नैव विद्यते ।
सिद्धरूपस्य सत्यत्वासत्यत्वाभ्यां विचारतः ।।
तटस्थस्यापि रूपस्य ते स्यातां नात्र संशयः ।।
आचार्य्य आन्तरस्फोटं तस्मिन्नेव प्रकाशयेत् ।
यस्मिन् प्रकाशितः सोऽसौ तुल्यमेव व्रजेत्सदा ।

आन्तरस्फोटोऽत्र रहस्य एव । वैदिकाविं दुरिति, पौराणिका भाव इति, आलङ्कारिका ध्वनिरिति, नाटकज्ञाः स्वगतमिति वैयाकरण आन्तरस्फोट इति वदन्ति सर्वेषां मतं तुल्यं, वहिः स्फोटातिरिक्तस्वात् तत्त् पदपदार्थातिरिक्तत्वात् । आकाश-गुणशब्दस्य वहिः स्फोटातिरिक्तस्य केचित् पूर्वावस्थामाहुः केचित् परावस्थामाहुः । आन्तरस्फोटो द्विधा, कविनिवन्धगतः कविगतश्चेति । रहस्यान्तरस्फोटो वहिस्फोटश्चेति । "तदा खेदो जायेत ग्रन्थकृत्मर्य्यादालंघनात् । "श्रूया चात्रानुमानेन यत् प्रात्यक्षं विरुध्यते । ऐतिह्य च क्वचित्तात्र भावो ज्ञेयः सुबुद्धिभि"रित्यत्र भावो रहस्यान्तरस्फोटः । स च तद्द्वये सति स्यात् सहीतिनिश्चयेन श्रीव्रजजनभावप्रापकरागानुगाया दुर्लभ-त्वाल्लोक उभयसाधनभ्रष्टः सन्नुच्छृङ्खलो भवेत् । तस्मादाचा-र्येण यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तादेवेतरो जन' इति हेतोः कानि-चिद्रागानुगांगव्यतिरिक्तानि वैध्याङ्गत्वेन प्रतीयमानानि तटस्थ-रूपेणाचरणानि करणीयानीति । आरोप आन्तरस्फोटः अतएव केवलान्तर्दशायां सत्यां सिद्धरूपमित्यान्तरस्फोटः । एतौ रहस्यौ, यस्य लोभो जातः केवलान्तर्दशा च मध्ये मध्ये जायते, तस्यैव

रहस्यान्तरस्फोटो वहिः स्फोटो न स्यात्। अपेक्षितं किञ्चित् स्फुटीकरणं प्रथमेति अन्यसाधनत्रयस्यैतद्व्यतिरेकसिद्धत्वात्। इष्ट इत्यादि "रागानुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते" इति वाक्यात्। आविष्टतेति रागानुगाकरणस्य दुष्करत्वात् भेदद्वयमिति स्वीकारायेत्यत्र—भेदद्वयं सेवायाः भेदद्वयमिति मानस्याः सेवायाश्चेष्टितत्वाविवक्षया रागाभिन्नत्वविवक्षातः साधकरूपेण च मानसीसेवा दर्शितेत्यत्र मानसीसेवा द्विधा आरोपस्फूर्त्तिभ्याम्। लुब्धैरित्यादि तद्द्वये सति स्यात् सहीति अस्य प्रमाणमत्र लिखितत्वात्तत्र पुनर्न लिखितम्। लुब्धैरित्यादौ कामानुगायां न वेशमनुकुर्य्यादितिध्वनिः, कामानुगाया मुख्यत्वेऽपि सम्बन्धानुगायामुपदेशो व्यञ्जकः, भावचेष्टितमुद्रयेत्यत्र भावो मानस्याविष्टता वस्त्रालङ्कारैकतरभूतस्वगतरूपा जहत्स्वार्थलक्षणासिद्धभावमुद्रया दुष्करत्वात्। लक्षणा-प्रयोजनवती प्रयोजनं मानस्या आविष्टताया भावेन सहाभेदकथनम्। अत्रासंलक्ष्यव्यंग्यक्रमध्वनिर्न स्यात् किन्तु संलक्ष्यव्यंग्यक्रमध्वनिः स्यात्। रागात्मिकालक्षणे आविष्ठताया अनुवादत्वमजहत्स्वार्थलक्षणया। साच तत्र तत्स्वरूपज्ञापनांशस्य सद्भावेऽप्यनुकरणा र्हतत्कार्य्यस्वरूपज्ञापनांशसद्भावात्, आविष्टताया अजहत्स्वार्थालक्षणाश्रयत्वेन तत्कारणभावगताजहत्स्वार्थ लक्षणाविषयत्वं व्यज्यते। तेन विधेयस्यापि — अजहत्स्वार्थ-लक्षणाश्रयत्वं व्यज्यते। तेन विधेयरागचेष्टितस्यापि विधेयत्वमायातम्। लुब्धैरित्यत्रोत्तमकाव्यत्वं ध्वनिसद्भावात्। इष्ट इत्यत्रोत्तमकाव्यत्वम् ध्वनन-प्रतिध्वननानुध्वननसद्भावात्। तत्तद्भावादिमाधुर्य्ये इत्यत्र लोभानुमाने माधुर्य्यापेक्षणं व्यतिरेकहेतुः। शास्त्र-युक्त्यनपेक्षणमैकान्तिकहेतुः। एतौ हेतू-प्रसाध्यांगे तथापि प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धैतत्कार्य्यचेष्टाभेदविवक्षया दर्शितौ, तल्लोभोत्पत्तेर्लक्षणं चिन्हमितिवक्तव्ये स्वरूपमित्यत्राभेदविव-

क्षया। अत्र व्यतिरेकप्रदर्शनमित्यान्तरस्फोटः।

यथा वैणिकचित्तस्था गीतिरिति प्रत्यायकः।
प्रेमा यथा सतो दोषान् निराकृत्य सतो गुणान्।
विषये स्फोरयत्येवं सतोऽपि गुणसञ्चयान्।
आरोपं च निराकृत्य स्वाश्रये दोषसञ्चयान्॥
दैन्यं स्फोरयति क्वापि तदा ताटस्थ्यमेव हि।
या ते इत्यस्य पद्यस्यास्वादनं पञ्चसु क्वचित्॥
दशासु स्यात् कदेत्यस्य पद्यस्यात्र न संशयः।
पूर्णमारोपस्फुत्तिभ्यां द्विविधं स्याद्विचारतः।
लोभस्य साधुसंगस्य सद्भावाद्व्रजेनेऽपि हि।
तयोर्दशयोराद्याया स्थायितां न विवक्षितम्।
सिद्धरूपस्य संभूतिः केवलान्तर्दशां विना।
नानुमेया विना तान्तु केवलो नहि सम्भवेत्।
व्रजलोकानुसारस्तं विना रूपकृपा कुतः।
प्रातिलोम्येन विज्ञेयः प्रयोगोऽत्र मनीषिभिः।
दशा--चतुष्टयं ह्यस्या वाह्यादिफलमुच्यते।
रागानुगाविवृतेस्तद्विना नैषा प्रयोजिका।
सिद्धान्तकथनादौ यत् कृष्णैश्वर्य्यं प्रकाशयेत्।
व्रजेन्द्ररतिमूलं तज्ज्ञानं भक्तौ तदुत्थितम्।
रसो द्विधा प्राकृतश्चाप्राकृतश्चेति तत्र हि।
प्राकृते वत्सलत्वादिः स्वेदेहरतिमूलकम्।
अप्राकृते देहरतिर्वत्सलत्वादिमूलका॥

समञ्जसादेहरतिसमाधानकरैर्जनैः ।
समाधेया देहरतिर्द्वितीयादिदशात्रये ॥

पाद्मोत्तरखण्डे—

यथा धृत्वा शुनःपुच्छं तर्त्तुमिच्छेत् सरित्पतिम् ।
तथा त्यक्त्वा हरिं देवमन्योपासनया भवेत् ॥

इतिश्रीरूपकविराजगोस्वामिविरचितं
श्रीरागानुगाविवृतौ परार्द्धम् ॥

॥ समाप्ता चेयं रागानुगाविवृतिः ॥

ऐशबुद्धिवासितात्मलोकवृन्ददुर्ल्लभा
व्यक्तरागवर्त्मरत्नदान-विज्ञवल्लभा ।
सप्रियालि-गोष्ठपालि-केलिकीरपञ्जरा
मामुरीकरोतु नित्यदेह-रूपमञ्जरी ॥
(साधनदीपिकायाम्)

प्रकाशकः—
बाबा श्रीकृष्णदासः

सम्पादकः—
श्रीहरिदासशास्त्री
न्यायाचार्यः, नवतीर्थः, बिद्यारत्नम्

☆

✻ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ✻

रागानुगाविवृतिविनोदिनी

प्रणम्य गोपिकाकान्तं गौराङ्गं श्रीगदाधरम् ।
विनोदिनीति टीकेयं भाषया क्रियते मया ॥

✢✢✢✢✻✢✢✢✢

निखिल-कविकुल-कुमुदचन्द्र-श्रीमान्रूपकविराज-निखिल-पुरुषार्थ-शिरोमणि-प्रतिपादक-ग्रथरत्न की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये शिष्टाचार-परम्परा के अनुसार वस्तु निर्देशरूप मङ्गलाचरण करते हुये कहते हैं कि—मैं दातों से तृण को दवाकर पुनः पुनः यही प्रार्थना करता हूँ कि जन्म जन्म में श्रीमद्रूपगोस्वामी चरण-कमल की धूली बनूँ ।

अभिप्राय यह है कि—श्रीराधाप्राणबन्धु की व्रजलोकानुसार प्रेमसेवा ही निखिल पुरुषार्थ शिरोमणि है, यह प्रेमसेवा का प्रदाता श्रीरूपगोस्वामी चरण हैं । उनके आनुगत्य के बिना कदापि श्रीराधाप्राण बन्धु की प्रेमसेवा नहीं मिल सकती । इस लिये स्वयं आचरण करते हुए उक्त प्रेमसेवा—लिप्सु साधकों को निर्देश कर रहें कि—उक्त प्रेमसेवा लाभ करने का एक मात्र उपाय है निष्कपटता के साथ एकान्त रूप से श्रीरूप—गोस्वामी के चरण-कमलों का आश्रित होना ।

पुरुषार्थ शिरोमणि श्रीराधा-प्राणबन्धु की प्रेमसेवा-प्राप्ति का उपाय निर्देश के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ का विचार्य विषय का आरम्भ कर रहे हैं।

पुराणों में श्रीकृष्ण का ब्रज,मधुपुरी,द्वारका,तथा गोलोक यह चार धामों का वर्णन है। अब उन २ धामोंकी प्राप्ति के लिये तदनुसार साधन की भी अपेक्षा है अर्थात् केवल माधुर्यानुभवी साधकगण ब्रज-भौमवृन्दाबन को प्राप्त होते हैं, ऐश्वर्यमिश्र-माधुर्यानुभवी भक्तगण मधुपुरी व द्वारका धाम को प्राप्त होते हैं, माधुर्यमिश्र-ऐश्वर्यानुभवी भक्तगण महावैकुण्ठ परव्योम गोलोक को प्राप्त होते हैं, और केवल ऐश्वर्यानुभवी भक्तगण बैकुण्ठ को प्राप्त होते हैं।

गोलोकधाम गोकुल का वैभव विशेष है। श्री वृन्दाबन में श्रीगोलोक-धाम का दर्शन उन्हीं भक्तों के लिए है जो कि ऐश्वर्य-ज्ञान से भजन करते हैं। श्रीमद्‌भागवत् शास्त्र के अनुसार शुद्धमाधुर्यभाव से जो लोक उपासना करते हैं, उनके लिये श्री-गोकुल वृन्दावन धाम है और यह भौम-वृन्दाबन धाम केवल उपासना स्थान ही नहीं है बल्कि परम प्राप्ति स्थान ही है।

अतएव साधनचतुष्टय के बीच में प्रथम मुख्यसाधन का जिससे श्रीवृन्दावन धाम की प्राप्ति होती है उसका विशेष रूप से प्रदर्शन कर रहा हूँ।

लक्षरणा के विना लक्ष्यवस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है,अत: लक्षरणा के द्वारा परम साधन रागानुगाभक्ति का प्रदर्शन के लिये पहले रागात्मिकाभक्ति काल क्षरण बर्णन करते हैं। अर्थात् अनुकार्य-ज्ञान के विना अनुसरण का ज्ञान होना असम्भव है. अत: रागा-नुगाविवेक के लिये पहले रागात्मिका स्वरूप को दिखाते हैं।

इष्टे–अर्थात् अपना अभीप्सित प्रेम के विषय श्रीनन्द-नन्दन में, स्वारसिकी–स्वाभाविकी, परमाविष्टता—कायिकी-वाचिकी-मानसी चेष्टा,वह राग है। तन्मयी-वह रागमात्र से प्रेरित जो भक्ति है,वह रागात्मिका शब्द से कहीजाती है। इष्ट में गाढ़-तृष्णा स्वरूपलक्षण है और इष्ट में स्वारसिकी परमाविष्टता तटस्थलक्षण है।

यहाँ पर आविष्टता राग की कार्यरूपा है, उस आविष्टता का तटस्थ लक्षणा के द्वारा जो अनुवाद किया गया है,वह विशेष चेष्टाओं को ग्रहण करने के लिये है।

वह चेष्टा कायिक–वाचिक यह दोनों से ही है। यह दो भेद भी ब्रजलोक के अनुसार होना आवश्यक है। इस प्रकार भक्ति ही मुख्या भक्ति है, और उसके द्वारा ही श्री ब्रजेन्द्र-नन्दन की प्राप्ति होती है। यह न होने से श्री ब्रजेन्द्रनन्दन की प्राप्ति ही नहीं होगी।

रागात्मिका में श्रीकृष्ण के अदर्शन होने से अनुराग के द्वारा मन आविष्ट हो जाने पर अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल चेष्टा भी होती है। इसलिए उसके अनुसार रागानुगा में भी साधक–रूप से और सिद्ध-रूप से प्रत्येक के कायिक-वाचिक-मानसिक यह तीन तीन प्रकार चेष्टाएँ होंगी।

वाग्गता तथा कायगता जो आविष्टता है, उसका कार्य ही मनोगता आविष्टता है। उसीको स्वगतादिरूपा कही गई है। यहाँ पर आविष्टता भी मनोगता-वाग्गता-कायगताभेदसे तीन प्रकार है

अब रागानुगा का लक्षण कहते हैं। ब्रजवासीजना-दियों में–"गोमृग-शुकादियों में" प्रकाश्य भाव से विराजमाना

जो भक्ति वह रागात्मिका है। इस रागात्मिका की अनुगता भक्ति ही रागानुगा है।

रागात्मिका भक्ति दो प्रकार की है। सम्बन्धरूपा तथा कामरूपा। सम्बन्धरूपा का लक्षरण यह है–जिससे श्रीगोविन्द के प्रति लाल्यत्वादि और अपने में पितृत्वादि अभिमान रहता है। इस लक्षरण में भी पितृत्वादि अभिमानिता अर्थात् पितृत्वादि अभिमान कार्यरूपा होजाना स्वाभाविक परमा मनोवाक् कायकी आविष्टंतारूप है।

अतएव सम्बन्धानुगा की अनुसरण-कारिणी भक्ति भी साधक तथा सिद्धरूप से प्रत्येक–सेवा कायिक–वाचिक–मानसिक तीन प्रकार की होगी। मज्जनगरण उसी को सम्बन्धानुगा कहते हैं। जिस भक्ति का सम्बन्ध–मनन व आरोपन ही स्वरूप है।

कामरूपा भक्ति का लक्षरण यह है- जिस प्रेममयी भक्ति में सम्भोग–तृष्णा को तथा 'अंग संगादि विषयक स्वसुख-वाञ्छा –रागात्मिका रूप से स्वीय सारूप्य की प्राप्ति कराती है। जिस लिए इसमें संभोगतृष्णा का उपाय में भी श्री-कृष्णसुख के लिए ही सर्वत्र चेष्टा रहती है।

गोपीगणों की प्रेम-विशेष को ही काम शब्द से कहा गया है। काम तथा प्रेम में बहुत अन्तर है। काम अन्धतम है और प्रेम निर्मल भास्कर स्वरूप है।

इस लक्षरण से भी कामरूपा–कामकार्यरूपा, स्वारसिकी-परमा–मन-काय की आविष्टतारूपा है। इसलिए, कामानुगा में भी उसके अनुसार साधक तथा सिद्ध रूपसे प्रत्येकभक्ति मानसी–वाचिकी–कायिकी–रूप से तीन तीन प्रकार की होगी।

कामानुगालक्षण-कामरूपाभक्ति की अनुगामिनी जो तृष्णा वह कामानुगा भक्ति है। वह सम्भोगेच्छामयी तथा तत्तद्भावेच्छात्मिका भेद से दो प्रकार है। यहाँ पर सम्भोगेच्छा उसका कार्यरूपा युथेश्वरी-गत-स्वारसिकी-परम मनो वाक्-कायाविष्टतानुसारिणी साधकरूपसे तथा सिद्धरूपसे कायकी-वाचिकी-मानसी एवं तीन तीन प्रकार प्रत्येक ही है। तत्तद्भावेच्छा भावचेष्टित का उपलक्षण है जो भावचेष्टित मुद्रया इस प्रमाण से पाया जाता है।

इसलिए—तत्तद्भावेच्छा तत्कार्यरूपा श्रीरूपमञ्जर्यादि की स्वारसिकी परम मनो-वाक्-काय–आविष्टता अनुसारिणी है। साधक तथा सिद्ध रूपसे प्रत्येक कायिक-वाचिक-मानसिक-यह तीन तीन प्रकार हैं।

श्रीजीवगोस्वामी चरण के मत में-सम्भोगेच्छामयी-काम प्राया की अनुगता और निजनिज अभीष्ट-व्रजदेवियों की भाव–विषयिणी-इच्छा जिस रागानुगा की प्रवर्त्तिका है वह मुख्या कामानुगा है। श्रीमद्भागवत के १०–८७–२३--श्लोक पर व्रजस्त्रीगण कामरूपा का उदाहरण स्थल है एवं श्रुतिगण कामनुगा का उदाहरण स्थल है। अर्थ यह है कि मुनिगण, प्राण-मन-व इन्द्रियादि को निरोध करके दृढ़योग युक्त होकर हृदय में जिस ब्रह्म तत्त्व की उपासना करते हैं जिसकी प्राप्ति के लिये सम्भावना ही नहीं है, शत्रुगण ने श्रीभगवान् के स्मरण प्रभाव से वही तत्त्व को लाभ किया है। नित्यप्रेयसी श्रीराधादि गोपीगण ने सर्पराजदेह के सदृश भुजदण्ड की प्रति प्रगाढ़ लालसा को बहन करते हुए—श्रीचरण कमल की सुधा--प्रेम मयमाधुर्यराशि की प्राप्त की है, हम सब श्रुतिगण ने भी उनसबों का सम भावापन्न होकर आनुगत्य के द्वारा व्यूहान्तर में गोपी देह को पाकर आपकी चरण सुधा को लाभ किये है।

भक्तिरसामृतसिन्धु को टीकाकार श्रीमुकुन्ददासगोस्वामी इस श्लोक की टीका पर कहते हैंकि–'सम्भोग' शब्द से श्रीकृष्ण

को सुख देनेके लिए उनके साथ श्रीराधादि यूथेश्वरी गणों का अङ्ग-सङ्गादि का अनुभावक प्रेम विशेष ही को जानना होगा।

इस प्रकार प्रेम विशेष वाली नायिका भावरूपा अभिलाष रूपा जो भक्ति है वह ही सम्भोगेच्छामयी है। और उन ललिता पद्मादि व्रजदेवियों का जो भाव है अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा चन्द्रावली प्रभृति का अङ्ग सङ्गादि के विषय में सहायता करना ही अपना अतिशय सुख है यह मान कर नायक–नायिका का आकर्षक जो सखीभावस्वरूपा भाव विशेष है, उससे ही अभिलाषमयी जो भक्ति है-वह ही तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती के मत में-कामरूपा की अनुगता तृष्णा ही कामानुगा है। पूर्वोक्त कामरूपा पद से जैसे काम प्रेरित क्रियाविशेष को ही लक्ष्य किया गया है। वैसे इस स्थल में भी साधकभक्त-निष्ट तृष्णापद से काममय-तृष्णा द्वारा प्रेरित क्रिया को ही समझना होगा। ऐसा होने पर व्रजसुन्दरीनिष्ठ कामप्रेरित क्रिया की अनुगता अर्थात्-अनुसारिणी जो साधक-भक्त निष्ठ कामप्रेरित क्रिया वह ही कामानुगाभक्ति मानी जावेगी। यह क्रिया दो प्रकार की है। भावनामयी मानसी, एवं परिचर्यामयी वहिरिन्द्रियव्यापारसाध्या है।

इस स्थल में यह आशंका होती है कि व्रजसुन्दरियों की क्रिया के अनुसार साधकभक्त के लिए सब क्रिया का विधान होने से गोपीगणों की अनुष्ठिता सूर्यपूजा का अनुकरण शुद्ध-भक्तगण क्यों नहीं करते हैं? सूर्यपूजा करने से क्या शुद्धभक्ति की हानि होगी? और भी-गोपीगण ने जिसका अनुष्टान

नहीं किया है अथ च श्रीरूपगोस्वामी आदि महानुभाव—गणके अनुष्ठित एकादश्यादि व्रतको साधकभक्त भी करते हैं।

इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार प्रश्न ही नहीं हो सकता। क्योंकि अनुगामो-शब्द का अनुसरणीय अर्थ नहीं होता है, किन्तु गोपियों के आनुगत्य से चलना ही अथ होता है। गोपियों की सब क्रिया को ही समग्रभाव से करना कर्तव्य नहीं है।

सम्भोगेच्छामयी शब्द से यूथेश्वरी की भाँति स्वतन्त्र रूपसे श्रीकृष्ण के साथ सम्भोगेच्छा-प्रेरिता पूर्वोक्त भावना मयी व परिचर्यामयी क्रिया ही कहना होगा। इसका उदाहरण चन्द्रकान्ति प्रभृति हैं।

और निज निज अभीष्ट व्रजदेवियों की श्रीकृष्ण-विषयक भाव विशेष की आस्वादनमयी इच्छा ही जिस भकित की प्रवर्त्तिका है, वह ही मुख्यनायिका-भावाभिलाष स्वरूपा है, और सखीस्वरूप व्रजदेवीगण की भाव माधुर्य कामना को ही तत्तद् भावेच्छात्मिका सखीभावाभिलाषस्वरूपा कही जाती है। रागात्मिकाभक्ति कामरूपा तथा सम्बन्ध रूपा भेद से दो प्रकार होने के कारण तदनुगता भक्ति भी कामानुगा व सम्बन्धानुगा भेद से दो प्रकार है।

रागानुगा की परिपाटी :—

निजप्रियतम किशोर श्री नन्दनन्दन की एवं इस प्रकार श्रीकृष्ण के ही भक्तजन, अथच साधक के सजातीय भाव-युक्त व्यक्ति को भी स्मरण करते हुए, सामर्थ्य रहने पर शरीर के द्वारा श्रीवृन्दावन में नित्य वास करते हुए, सामर्थ न रहने से मन से भी श्री वृन्दावन में नित्यवास करें।

साधक रूपसे अर्थात् यथावस्थित देह से व्रज में अथवा अन्यत्र अवस्थित देह से, एवं सिद्धरूप से—अन्तश्चिन्तित

अभीष्ट—तत् सेवोपयोगी देह से,व्रज में ही वास करने की निष्ठा रखकर—उस व्रजस्थ-निजाभीष्ट—श्रीकृष्ण की रति विशेष—लाभेच्छु व्यक्ति,व्रजलोकगणों का—श्री कृष्ण प्रेष्ठा-श्री,,राधा-चन्द्रावली,—ललिता—विशाखा—तथा रूपमञ्जरी-प्रभृति एवं उन सवों का अनुगत श्रीरूप—सनातन गोस्वामी प्रभृति का अनुसरण करके,किन्तु'अनुकरण करके नहीं'सेवा करें। सिद्धरूपसे मानसीसेवा—श्रीराधा-ललिता आदि का आनुगत्य से, एवं साधक रूप से दैहिक आदि की सेवा श्रीरूप-सनातनादि--व्रजवासि गण के आनुगत्यसे करना ही कर्तव्य है।

यहाँ पर विशेष स्मरण रखने की वात यह है कि—'अनुसरण' शब्द का अर्थ अनुकरण नहीं है। तात्पर्य से मिलन तथा भाव साजात्य ही, इस पदसे ध्वनित होता है।

व्रजलोकपद से व्रजरूप श्रीराधा-चन्द्रावली प्रभृति को ग्रहण करके उन सवों का अनुकरण से, साधकदेह से कायिक-वाचिक सेवा भीकरना कर्तव्य है। गोपीगण ने, जबकि श्रीगुरु-पादाश्रय-एकादशीव्रत-शालग्राम तथा तुलसी—सेवादि का आचरण नहीं किये है, तव वह आचरण, हम लोगों के लिए भी नहीं है, इस प्रकार सिद्धान्त अशास्त्रीय है।

श्रवण--कीर्तन आदि वैधी भक्ति तथा श्रीगुरुपदाश्रयादि जो सब भक्तांग का कथन हुआ है रागानुगाभक्ति में भी उन उन अङ्गोंकी उपयोगिता तथाअपेक्षा रहतीहै। मनीषिगण स्व स्व भावोचित अङ्ग समूह का आचरण करें किन्तु उसके विरूद्ध आचरण न करें। भाव-विरुद्ध अर्चनमार्ग में अहंग्रहोपासना,-मुद्रा—न्यास—प्राणायाम-द्वारकाध्यान—तथा रुक्मिणी आदि की पूजा आगमशास्त्र में विहित होने पर भी इस भक्तिमार्ग में वह अकर्त्तव्य है। भक्तिमार्ग का यत् किञ्चित् अङ्ग वैकल्य होने पर भी कोई दोष नहीं होता है।

यहाँ पर सिद्ध-रूप से मानसी-वाचिकी तथा कायकी सेवा कही गई हैं और साधक-रूप से मानसी-सेवा भी कही गई। "तत्तत्कथारत होकर" इस वचन से साधक रूप से कीर्त्तन-श्रवण के द्वारा कायिकी-वाचिकी सेवा सूचित हुई है एवं "व्रज में वास करें" इस वचन से साधकरूप से कायिक-सेवा सूचित हुई है। रागानुगा-भक्ति के अधिकारी—

केवल रागात्मिका-भक्ति में निष्ठाप्राप्त व्रजवासीजनों का श्रीकृष्ण के प्रति जो भाव है उस प्रकार भाव प्राप्ति के लिये लुब्धव्यक्ति ही इस रागानुगा-मार्ग के अधिकारी है। यहाँ पर एक शब्द का प्रयोग है। उससे महिमज्ञान-प्रयुक्त आवृत-स्नेह तथा द्वारकादिस्थ नित्य-सिद्ध परिकरों का व्यावृत्त हुआ है। वात्सल्य तथा सख्यादि-भाव में लुब्ध साधकगण व्रजेन्द्र तथा सुबलादि की भावचेष्टा का अनुभाव एवं मुद्रा-परिपाटी को ग्रहण करके, परन्तु व्रजेन्द्रत्वादि का अभिमान न करके साधक तथा सिद्धदेह से श्रीकृष्ण की भक्ति-सेवा करें।

पितृत्वादि अभिमान दो प्रकार से है, अस्वतन्त्र भाव से अर्थात् आनुगत्य से एवं श्रीकृष्ण के पिता-सखादि के साथ अभेद-भावना के द्वारा। दूसरा पक्ष अर्थात् व्रजेन्द्रत्वादि अभिमान निन्दनीय है। क्यों कि साधक-देह में व्रजेन्द्र आदि की भाव चेष्टा-मुद्रा ग्रहण से सेवा नहीं हो सकती। सुबलादि सखागण ने गुरुपादाश्रय, एकादशी व्रतादि का आचरण नहीं किया है कारण वे सब नित्य-सिद्ध परिकर थे। साधक उन सब अंगों का आचरण न करने से अपराधी बन कर प्रत्यवाय का भागी होगा। अतएव सिद्धदेह से मानसी सेवा करने के लिये ही श्रीपादने व्रजेन्द्र-सुबलादि की भाव-चेष्टा का अनुसरन करने के लिए कहा है।

श्रीमद्भागवतादि एवं तदर्थ प्रति पादक रसिक-भक्तकृत लीला-ग्रन्थ समूह से श्रीनन्द-यशोदादि ब्रजवासिगणों का भाव तथा रुप-गुणादि जो श्रीकृष्ण का सर्वेन्द्रिय—प्रीतिकर है उस की माधुर्य—काहिनी सुनकर तथा यत् किञ्चिदनुभूत-प्राप्त कर तथा शास्त्र-युक्ति-निरपेक्ष होकर बुद्धि-वृत्ति को प्रवर्तन से अर्थात् कब मेरा ऐसा होगा इस प्रकार भाव-माधुर्यका-अभिलाष करके ही लोभोत्पत्ति होती है । लोभोत्पत्ति का यह लक्षण कहा गया है । यहाँ पर लक्षण-शब्द का अर्थ अनुमापक है, स्वरूपार्थ नहीं क्यों कि शास्त्र—युक्ति की अपेक्षा न रहने से ही स्वरूपत्व सिद्ध नहीं होता है । यहाँ पर लीलाश्रवण-कारी की साधकतमता उक्त है, जो संभोगेच्छात्मिका कामानुगा में श्रीमूर्ति-दर्शन की अभिप्रेत रखती है ।

इस साधन-प्रकरण में वैधी-भक्ति का अधिकारी जन रति-आविर्भाव-काल-पर्यन्त शास्त्र तथा अनुकूल-तर्क की अपेक्षा करता है किन्तु रति का आविर्भाव में उसकी अपेक्षा नहीं रहती ।

राग-भक्ति में प्रथम प्रवृत्ति से ही लोभोत्पत्ति होती है, इसलिए कभी भी शास्त्र-युक्ति की अपेक्षा नहीं रहती, यह ही रागानुगा का महोत्कर्ष है किन्तु जिस विषय में लोभ हुआ है उस की प्राप्ति के लिए शास्त्रादि का अनुसन्धान एवं शास्त्रोक्त-साधन का अनुसन्धान अवश्य-कर्त्तव्य है ।

तात्पर्य यह है कि—शास्त्र के शासन को लेकर जो भजन है वह विधिमार्ग है एवं लोभ-प्रयुक्त विधि-मार्ग से भजन रागमार्ग है । लोभ की प्राप्ति श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों की कृपा से ही होती है । सिद्ध-रूप से मानसी-वाचिकी-कायिकी

सेवा और साधक रूप से मानसी-सेवा जाननी होगी। चेष्टित माधुर्य-शब्दसे भी उक्त प्रकार सेवा जाननी होगी।

अप्राप्त कृष्णादिसङ्ग तथा प्राप्त कृष्णादिसङ्ग भेद से साधक दो प्रकार हैं। प्रथम साधक वाह्य-दशा में तथा द्वितीय साधक अर्द्धवाह्य दशा में प्रवर्त्तमान होता है, कभी अन्तर्दशा में भी होता है। किन्तु सिद्धरूप का प्रवर्त्तन अन्तर्दशा में ही होता है।

अजातप्रेम साधक की अन्तर्दशा बहुकालव्यापी नहीं होती है। सञ्जात प्रेम साधक की अन्तर्दशा बहुकालव्यापी होती है। भाव होने से तटस्थ का नाश होता है। भाव का आविर्भाव-काल पर्यन्त साधक-अवस्था रहती है और उस समय उस लुब्ध-साधक के प्रति ही उपदेश दिया जाता है।

"सेवा साधकरूपेण"-इस श्लोकमें अनुकल्प तथा मुख्य-कल्प भेद से तन्त्र की व्याख्या है। लोभोत्पत्ति वाला एक ही साधक तीन प्रकार का होता है। लोभ से लेकर भाव आविर्भाव तक साधक-संज्ञा है तथा प्रेमके होनेपर सिद्धसंज्ञा है। जिसकी अनर्थ-निवृत्ति हुई है, वह प्रथम-साधक है। रुचि जिसकी हुई है वह द्वितीय साधक है। भाव जिस का हुआ है वह "तृतीय" साधक है। प्रथम तथा द्वितीय-पक्ष की व्याख्या पहले ही हो चूकी है एवं वाह्य-अर्द्धवाह्य दशा की व्याख्या भी बतलाई गई है। अब तृतीय पक्ष की व्याख्या अन्तर्दशा को लेकर ही होगी। पूर्वोक्त दोनों प्रकार साधक गौण हैं,और तृतीय प्रकार साधक मुख्य है। इस लिए वीणा-वैणिक दृष्टान्त दिया गया है। सिद्ध एवं साधक की तुल्यता वीणा और वैणिक की भाँति है। वीणा और वैणिक भिन्न होने पर भी गान के समय एकाकार रूप से

प्रतीत होता है। वैसा ही सेवा के लिए सिद्ध तथा साधक रूप की भी एकता होती है। भेद होने से ब्रजभाव नहीं होगा। गान में क्रम का भेद प्रतीत नहीं होता है। वैसे ही साधक-सिद्ध का भी सेवाक्रम जानना होगा।

सिद्धरूप में अन्तर्दशा चिरकाल रहती है और साधक रूप अन्तर्दशा अति लघु होती है। यहाँ पर भी पहले की भाँति प्राप्त कृष्णादिसङ्ग तथा अप्राप्त कृष्णादिसङ्ग भेद से साधक को भी दो प्रकार जानना होगा। प्रथम साधक आसक्त्यधिकारी है। और दूसरा साधक आसक्ति तथा भाव का अधिकारी है। इस प्रकार अन्तर्दशा में भी दो भेद होंगे। गौण और मुख्य भेद से। यथास्थित-देह की स्फूर्ति होने से गौण और यथास्थित-देह की स्फूर्ति न होने से मुख्य अन्तर्दशा है।

लोभ से लेकर जिसके भाव का आविर्भाव हुआ है वह साधक है, और प्रेम का आविर्भाव होने से सिद्धभक्त कहलाता है। प्रथम साधक वह है जिसके अनर्थ-निवृत्ति हुई है। अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश यह पांच अनर्थ हैं। द्वितीय साधक वह है जिसकी रुचि हुई है। यह साधन - क्रम की सप्तम कक्षा है। तृतीय साधक वह है जो भाव का अधिकारी है। प्रथम साधक की व्याख्या वाह्य तथा अर्द्धवाह्य-दशा दिखाते हुये की गई है। तृतीय साधक की व्याख्या साधक की अन्तर्दशा को लेकर होगी। प्रथम दो साधक गौण हैं और तृतीय-साधक मुख्य है। सिद्ध एवं साधक को बीणा और वैणिक के दृष्टान्त से जानना होगा। वाद्य और वादक भिन्न होने पर भी गानके समय दोनों की एकता जैसे होती है, वैसे सेवा की समता की दृष्टि से सिद्ध तथा साधक की एकता है। जैसे बैणिक- चित्तस्थ गीत को बीणा बोलती है, वैसे साधक की सेवा सिद्धरूप में होती

है। वीणा-वैणिक का भेद होने पर भी गान में ऐक्य नहीं होता है। वैसे-वैधी के मिश्रण से ब्रजभाव नहीं होगा।

शीघ्रता के हेतु गान में वीणा-वैणिक का क्रम दिखाई नहीं पड़ता, वैसे साधक और सिद्ध की सेवाक्रम दिखाई नहीं पड़ता। वैणिकस्थानीय साधक है। सूक्ष्म-विचार से वह दो प्रकार होगा। श्रीकृष्णादिसङ्ग प्राप्त ब्रजजन, एवं उन का अनुगत जन एक। दूसरा–अप्राप्त श्रीकृष्णादिसङ्ग ब्रजजन का अनुगत है। इस प्रकार से साधक—स्वरूप तीन प्रकार हुआ है। प्रथम साधक वह है जो आसक्ति का अधिकारी है। द्वितीय साधक वह है जिस का आसक्ति और भाव हुआ है। इस प्रकार अन्तर्दशा में भी दो भेद होगा। अवान्तर भेद से गौण और मुख्य दशा होती है यथास्थित स्फूर्ति होने से मुख्य दशा तथा इसके अभाव से गौणदशा होती है।

इस प्रकार से साधकस्वरूप चार प्रकार होता है। स्वरूप–तटस्थ–व्याप्य तथा व्यापक; किन्तु सिद्ध—स्वरूप एक ही है। सिद्धरूप में सदा अन्तर्दशा रहती है।

अब चतुर्विध साधक का निर्णय श्रवण करो। प्रथम वाह्यदशा का अधिकारी है। द्वितीय अर्द्धवाह्य दशा का, तृतीय पूर्व अन्तर्दशा का और चतुर्थ –साधक परान्तर्दशा का अधिकारी है।

जिसमें वाह्य दशा की स्फूर्ति होती है वह पूर्वान्तर्दशा है। साधक स्वरूप में जब अन्तर्दशा का उदय होता है,तब उसमें स्वरूप का संयोग होता है। सिद्धरूप की अन्तर्दशा में वह संयोग नहीं होता है, किन्तु साधक का संयोग होता है। साधक की

अन्तर्दशा क्रम से बड़ती जाती है। साधक रूप में अन्तर्दशा अवश्य-स्वीकार्य है। अन्यथा रागानुगा भक्ति असम्भव होगी। साधक रूप में यदि रागानुगा नहीं होगी तो "सेवा साधक-रुपेण" यह श्लोक क्यों कहा गया है ? व्रजजन के अनुसार जो साधक सिद्धरूप से सेवा करेगा इस वाक्य से रागानुगाभक्ति की सिद्धी होती है। व्रज--लोकानुसार शब्द से भावना का आकार प्राप्त होता है। साधक स्वरुप में भावनामय रूप का आरोप प्राप्त हुआ है, तब उसमें अन्तर्दशा अवश्य होगी।

इस लिये प्रथम साधक-स्वरुप में वाह्यदशा होती है, जो कि अतिस्थूल है और सिद्धदशा में अन्तर्दशा व्याप्त रहती है। बहुत काल-व्यापित्व और स्वरूप का प्रकाश होना यह भी इस का उत्कर्ष है। तटस्थ का भी नाश होता है, जहाँ जहाँ सिद्ध अन्तर्दशा का उदय होता है, वहाँ साधक--अन्तर्दशा का भी उदय होता है। उस काल में सिद्ध-साधक दशा विलक्षणता की हानी प्राप्त कर सालक्षरूपकी प्राप्ति करती है। प्रेम होने से तटस्थ का नाश होता है और अन्तर्दशा-काल में तटस्थ भी लीन रहता है।

श्रीकृष्ण-प्रतिमा की माधुरी को देख कर एवं प्रतिमा रुपा उनकी प्रेमसीगण के साथ श्रीकृष्ण की पूर्वराग, रासादि प्रसिद्ध लीलामाधुरी का अनुभव करके उन नायिका तथा सखी स्वरुपा द्विविध गोपीगण का द्विविध भाव से जो व्यक्ति लुब्ध हुआ है, वह यथाक्रम से द्विविध कामानुगा का साधक होगा। पहले केवल श्रवण की कथा उक्त होने परभी, इस स्थल में श्रीमूर्ति-दर्शन की अपेक्षा देखी जाती है। दर्शन भी श्रवण की अपेक्षा रखती, हैं श्रवण को छोड़कर लीला की स्फूर्त्ति नहीं होती है। लीलाश्रवण भी श्री मूर्त्ति दर्शन को छोड़कर

कार्यकरी नहीं होता है।

स्त्री हो अथवा पुरुष हो यदि वह साक्षात् रूप से श्री-कृष्ण के साथ रमणेच्छा करके व्रजादि सम्वन्ध की लिप्सा को छोड़कर केवल निजभाव का प्रतिकूल महिषी-पूजा तथा द्वारिका-ध्यान आदि का किसी अंश को परित्यागन करके ही विधि-मार्ग से वल्लवीकान्त-ध्यानमय-मन्त्रादि के द्वारा सेवा करता है तो वह कुछ ही देर में द्वारका में महिषीत्व अर्थात् महिषी-गण का आनुगत्य परिकरत्व को लाभ करेगा। श्रीनन्दनन्दन के सुख निमित्त सुष्ठु रमणेच्छा के लिए ही सिद्धरूप में रागानुगा द्वारा ब्रज में सेवा-कामना को उत्तम रूप से दिखाया गया।

विधिमार्ग पद से-साधक रूप में वैधी-भक्ति के द्वारा एवं केवल पद से रागानुगा-मिश्र साधन द्वारा मथुरा में महिषीत्व की प्राप्ति हो सकती है। अर्थात्-श्रीनन्दनन्दन का सुखाभिलाष इप्सित होने पर भी यथोपयुक्त साधन का अभाव से अन्य विध गति ही होगी।

श्रीवृन्दावन में श्री राधा-कृष्ण की माधुर्यास्वादन के लिये जिनकी अभिलाषा है, अथच न्यास-मुद्रादि सम्बलित-वैधीमार्ग का भजनरत हैं उन सबों की श्रीरुक्मिणी—कान्त में अभिलाषा न रहने से द्वारका की प्राप्ति नहीं होगी। पक्षान्तर में रागमार्ग का भजन न रहने के कारण श्रीवृन्दावन में श्री राधाकृष्ण की प्राप्ति भी नहीं होगी सुतरां जिस स्थल में ऐश्वर्य प्रधान विधि मार्ग का भजन-कार्य है, उस वृन्दावनीय-अंश विशेष रूप गोलोक में श्री राधाकृष्ण की प्राप्ति होगी, किन्तु शुद्ध-माधुर्य-मय श्रीवृन्दावन में नहीं।

गोकुल का वैभव विशेष ही गोलोक हैं–यही है–श्रीरूप-गोस्वामी-आदि महानुभावों का सिद्धान्त । अग्निपुत्र-गण ने भी विधिमार्ग के अनुसार तपस्या के द्वारा स्वीत्व प्राप्ति पूर्वक अज, विभु व जगत्कारण वासुदेव को पतिरूप में प्राप्त किये थे, अर्थात्–द्वारका में महिषीत्व को प्राप्त किये थे।

स्कन्धपुराण में वर्णित है कि—हस्तिनापुर स्थित कोई वृद्ध-वर्द्धकि 'वढ़ई' ने श्रीनारद के उपदेश में श्रीनन्दनन्दन की प्रतिमा को पुत्र-बुद्धि से भजन करके भावसिद्धि को प्राप्त किया। साधक देह में साधक की भक्तानुसारि-सेवा के सम्बन्ध में पुराण का यह प्रमाण है । श्रीनन्दनन्दन की प्रतिमा कहने से ब्रजेन्द्र की भाव चेष्टा का निरसन हुआ, क्योंकि ब्रजराज श्री नन्द साक्षात् श्रीकृष्ण की ही सेवा किए थे। इस स्थल में सिद्ध शब्द से वत्सहरण लीला में जैसे श्रीकृष्ण सब लोगों का पुत्र हुए थे ऐसा जानना होगा।

श्रीनन्दनन्दन जिनके प्रति कृपा करते हैं और श्रीरूप-गोस्वामी अपना परिकरों के साथ जिन पर कृपा करते हैं, उन का ही सर्वथा ब्रजलोकानुसार-भजन होता है अन्यथा यह सर्वथा दुर्लभ है, यह निश्चय करके जानना होगा।

श्रीकृष्ण व उनके भक्तों की करुणा-लाभ ही रागमार्ग में प्रवृत्ति के प्रति एकमात्र सर्वोत्तम कारण है। कभी विधिमार्ग में कर्मादि-समर्पण भक्ति-प्रवृत्ति में द्वार स्वरूप होने पर भी रागानुगामार्ग में कृपा ही एक मात्र हेतु होती है। कोई कोई महाशय उक्त भक्तिमार्ग को पुष्टिमार्ग कहते हैं।

आविष्टतात्रय का अभाव होने से तटस्थ-स्वरूप होता है । आविष्टतात्रय इस प्रकार है—स्वारसिक—परम—मनो वाक् कायाविष्टता का मनो-वाक्-काय के अनुसार त्रिविध

है, कायकी-वाचिको तथा मानसी-यह तीन प्रकार है। तटस्थ रूप से सेवा प्रत्येक ही फिर तीन प्रकार है स्व- पुंस्त्वभावना, श्रीकृष्णमें ऐश्य भावना एवं इस भावनाद्वय युक्तही है। यह अपकर्ष रूपमें रहता है। इस प्रकार तटस्थता का दिराम होने पर भी उस का कार्य अन्तर्दशा में अबहुकाल व्यापि तथा स्वरूप का अपकर्ष रूप में रहता है। जैसे प्रत्यय का अदर्शन होने पर भी उस प्रत्यय का कार्य रहता है। तटस्थता में साधकत्व हेतु का योग -अन्तर्दशा में तत् स्वरूप का अपकर्षत्व रूप कार्य है।

विशेष रूप से कामानुगाअधिकार का लक्षण उद्धृत हो रहा है। श्रीमूर्ति की माधुरी को देखकर तथा उन उन लीलाओं को सुनकर नायिका तथा सखि-भेद से द्विविध ब्रज-देवियों का भाव लुब्ध-"कब मेरा ऐसा होगा" इस प्रकार बुद्धि-सम्पन्न-व्यक्ति, क्रम से सम्भोगेच्छामयी, तत्तदभावेच्छात्मा यह दो प्रकार भक्ति साधन का अधिकारी होता है।

यहाँ पर "तत्तल्लीला" यह पद भाव का द्वार तद्भाव इस चेष्टित का उपलक्षक है। यहाँ भी कायिकी-वाचिकी-आदि रूप से व्याख्या का अनुसन्धान करना होगा।

सम्बन्धानुगा एवं कामानुगा-भक्ति में अधिकार होने से उन अधिकारी के प्रति यह उपदेश है "सेवा साधकरूपेण सिद्ध-रूपेण" इत्यादि। "साधकरूपेण"-यथा-स्थित देह से, "सिद्ध-रूपेण"-अन्तश्चिन्तित अभीष्ट तत् सेवोपयोगी देह से, "तस्य" निजाभिष्ट, श्रीकृष्ण का भाव अर्थात् रति-विशेष उसमें लिप्सु जन, "ब्रजलोका:"-अर्थात् श्रीकृष्ण प्रेष्ठजन-श्रीराधा-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी-आदि तथा उनके अनुगत श्रीरूप-सनातन गोस्वामी आदि, उन के अनुगत होकर सेवा करे अर्थात्-सिद्ध

रूप से मानसी सेवा श्रीरूपमञ्जरी आदि के अनुसार करनी होगी। साधक रूप से श्रीरूप-सनातन आदि व्रजवासी-जनों के अनुसार कायिकी सेवा करना कर्त्तव्य है।

अतएव "व्रजलोक" पद से व्रजस्थ श्रीराधा-चन्द्रावली आदि को ग्रहण करना चाहिये, उन सवों के अनुसार साधक-देहसे सेवा करना कर्त्तव्य है। उन लोकों ने श्रीगुरुपदाश्रय, एकादशी-व्रत, शालिग्रामसेवा तथा तुलसी-सेवादि का अनुष्ठान नहीं किया है अतः हम लोग भी उस प्रकार अनुष्ठान नहीं करेंगे इस प्रकार आधुनिक मत भी निरस्त हुआ। श्रीजीवगोस्वामी-चरण का कथन यह है कि-"व्रजजनास्त्वत्र कृष्णप्रेष्ठजना तदनुगताश्च तदनुसारतः" अर्थात् व्रजलोक शब्द से श्रीकृष्ण का प्रेष्ठजन और-उन प्रेष्ठजनों का अनुगत जन ही ग्रहणीय है। उन उन जनों के अनुसार सेवा करना एकान्त कर्त्तव्य है। भक्तिमार्ग में शास्त्रीयता की अपेक्षा अनिवार्य है। श्रीरूपगोस्वामी चरण का मत यह है कि- "श्रुति-स्मृति-पुराणादि- पञ्चरात्रविधिबिना। ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते। भक्तिरैकान्तिकावेयम-विचारात् प्रतीयते। वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते" अर्थात्-बिना परिश्रम से पूर्व पूर्व महाजनगण ने जिस मार्ग के अवलम्बन से भगवत्-प्राप्ति की है, सर्व-सन्ताप-वर्जित, मंगल निदान वह-मार्ग अन्वेषणीय है। वह मार्ग साधुमार्ग है, श्रुति प्रभृति का अनुमोदित ही है। सुतरां उस पथ से गमन न करने से दोष होता है, इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं।

वैष्णवों का स्वस्व अधिकार प्राप्त श्रुति-स्मृति-पुराण तथा पञ्चरात्र प्रभृति कथित विधि को नास्तिक-बुद्धि से न मानकर यदि कोई एकान्त भाव से भी श्रीहरिभक्ति का अनुष्ठान करता है तो उससे उत्पात का ही लाभ होता है।

यहाँ पर आशङ्का यह है कि श्रुत्यादि कथित विधि का अभाव से कैसे ऐकान्तिक भक्त होगा ? और एकान्ती होने से वह उत्पात ही क्यों होगा ? उक्त प्रश्नों का उत्तर यह है कि-बौद्ध आदि की नास्तिकता—मयी भक्ति है बुद्ध-दत्तात्रेय-आदि में जो ऐकान्तिकी देखने में आती है, वह ऐकान्तिकी भक्ति की भाँति प्रतीत होती है, वास्तव में वह भक्ति नहीं है। क्यों कि वह भक्ति अविचार प्रसूत है। कारण है कि उस प्रकार भजन में वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रों के प्रति अवज्ञा ही की गई है। अशास्त्रीय होने के कारण वह भक्ति वैधी व रागानुगा तो है ही नहीं, परन्तु सन्मार्ग का अनादर से वह कल्पित पथ है उससे कुमार्ग-गमन ही अवश्य होगा।

"तद्भाव-चेष्टित" यह पद चेष्टा का उपलक्षक है, षड् विध सेवा में ही इसकी अपेक्षा है। उपदिष्ट साधक-स्वरूप तथा सिद्ध—स्वरूप का आचरण ब्रजजन-विशेष का अनुसार होना एकान्त आवश्यक है। उसका व्यतिरेक प्रदर्शनकर रहे हैं कि-जिस भक्ति में प्रवर्त्तक लोभ नहीं कर तत्प्रवर्त्तित शास्त्र-शासन को ही प्रयोजक रूप मानता है वह वैधी भक्ति है। श्रीकृष्ण के साथ महिषियों की भाँति साक्षात् रमणेच्छा के लोभ से प्रेरित होकर जो श्रीकृष्ण-भजन करता है एवं रागानुगा-पद्धति को छोडकर जो शास्त्रीय विधि से अर्च्चनादि का अनुष्ठान करता है—वह द्वारका धाम में महिषी-स्वरूप को प्राप्त करेगा। श्री-नन्दनन्दन तथा श्रीरूपगोस्वामी आदि की करुणा के बिना सर्वथा ब्रज-लोकानुसार रागानुगा-भजन नहीं होता है।

आविष्टतात्रय का अभाव को ही तटस्थरूप कहा गया है, यहाँ पर आविष्टतात्रय यह है-स्वारसिक परम मनो-वाक्-काय से आचरण। कायिकी-वाचिकी तथा मानसी जो तीन प्रकार की

सेवा है, तटस्थ रूप में वह पुनः तीन प्रकार की होगी। स्व-पुंस्त्वभावना, श्रीकृष्ण में ईश्वर-भावना, तथा स्व-पुंस्त्व—अपुंस्त्व और श्रीकृष्ण में माधुर्य-ऐश्वर्य का योग उक्त भाव के अपकर्ष का सूचक है। एवं तटस्थता का अदर्शन होने पर भी तटस्थता की अन्तर्दशा में तटस्थता का कार्य अबहुकाल-व्यापित्व-स्वरुप अपकर्ष रूप में रहेगा, जैसे प्रत्यय का अदर्शन होने से भी प्रत्यय का कार्य रहता है। विशेप रूप से कामानुगा का लक्षण यह है-श्रीमूर्ती की माधुरी को देखकर अथवा ब्रजदेवियों की पूवराग, रासादि लीलाओं को श्रवण करके, नायिका और सखीरूपा ब्रजदेवियों का भाव में लुब्ध होकर श्रीरुपमञ्जरी आदि के आनुगत्य से जो भजन करता है वह कामानुगा भक्ति का अधिकारी है।

यहाँ पर 'तत्तल्लीला' यह शब्द भाव का उपलक्षक और 'तद्भाव' यह चेष्टा का उपलक्षक है। यहाँ पर भी—'तत्तद्भावादिमाधुर्य' की भाँति व्याख्या होगी।

सम्बन्धानुगा और कामानुगा का अधिकारी होने पर ही उन दोनों के प्रति सेवा साधक–रूप से उपदेश किया गया है। यहाँ पर भी 'तद्भाब' चेष्टा का उपलक्षक है।

यथास्थित देह की अस्फूर्ति से, ऐश्य–भावना का संयोग से, स्वपुंस्त्वरूप ऐश्वर्य भावना संयोग से तथा श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य माधुर्य मय भावनाद्वय का संयोग से भी यह कामानुगा का अङ्ग होगा। और कामानुगा का अङ्ग भी तीन तीन—गुणित से नौ प्रकार का होगा। प्रथम स्वपुंस्त्व—भावनेतर का साम्य होने के कारण तीन प्रकार भी होगा। यह कामानुगा के तुल्य कैसे होगा—इसका पुरुष—भावना से भिन्न के साथ समता होने से

और बादमें होनेसे पोषक भी होता है इसलिये वह भक्ति कामानुगा का अंग होगी। ब्रजभाव से इतर की अनर्थ—निवृत्ति होती है। अनर्थ की निवृत्ति न होने से रति नहीं हो सकती है।

"स्व—पुंस्त्वभावनायुग्" इस वाक्य से यथास्थित देह में जीवाभिमान पुरुष-अभिमान प्रधान से होता है। रागानगा में यह रीति जाननी होगी।

तटस्थ रूप की सेवा नौ प्रकार की होती है। जो तटस्थता से पृथक् साधक नहीं है उसका तटस्थ रूप ही साधकत्व में कारण है।

जैसे रसाला में वस्तुद्वय का मिश्रण करने पर एक अपूर्व-आस्वाद होता है वैसे ही सिद्ध तथा साधक की व्यवस्था भी जाननी होगी। जैसे बस्तु में आधार-आधेय-भाव होता है वैसे तटस्थ तथा सिद्धरूप का भी सम्बन्ध जानना होगा। यद्यपि तटस्थ- स्वरुप सिद्धरूप से भिन्न ही है तथापि रागानुगीय-अधिकारोचित कर्मका ही आचरण उस अवस्थामें होना गुण है, लोक- प्रसिद्ध काम्य-कर्मादि दोषावह है,कम मदिरा के सदृश है, वह काम्यादिकर्म भक्तिमार्ग में वाधक है।

सिद्धरूप भावनामय होने के कारण वह रागानुगा ही है किन्तु रागात्मिका नहीं है। साधक रूप में जो रागानुगा होती है वह आरोप से ही होती है। तटस्थ रूपमें रागानुगा भक्ति नहीं हैं। क्यों कि वहाँपर आरोप का अभाव है। रागानुगा की फल-स्वरुप निष्ठा आदि जो बस्तु है,वह तटस्थता में संक्रामित नहीं होती हैं। साधन का विराम होने पर भी उसका फल-रूप प्रेम का विराम नहीं होता है। उसी प्रकार साधक रूप में निष्ठा आदि का उदय होने पर सिद्ध रूप में भी उन सब का उदय होता हैं।

यह सब वीणा-वैणिक दृष्टान्त के द्वारा दिखलाया गया है। साधक रूप में प्रेम जात होने से भावनामय-रूप प्रेम का भी साक्षात्कार होगा। साधक रूप भी सिद्ध होकर साक्षात् रूप के साथ एकता हो जाती है। ऐसा होने पर वहाँ वहाँ रागात्मिका मानी जाती है। श्रीगुरु आदियों का सिद्ध रुप में और साधकायमान रुप में भी रागात्मिका ही है किन्तु रागानुगा नहीं है। यथा- श्रीरूपगोस्वामी चरणों का साधक रूप में साधकायमान है और अपना सिद्ध रूप में सिद्धायमान है। वे गुरु प्रभृति सिद्ध हैं स्वयं साधक भी है। इससे भावनामय रूप का सत्यत्व सिद्ध हुआ है, किन्तु मनोमय की भाँति मिथ्या नहीं है। अन्यथा गुर्वादिकृत साधनभी मिथ्या होगी किन्तु ब्यतिरेक प्रदर्शनगत भावनामयरूप का असत्य होने पर भी उसमें फलान्तर प्राप्त कराने की योग्यता अवश्य रहेगी। भावनामय पदके मयट् प्रत्ययान्त होनेके कारण अवास्तव होने पर भी प्रकृत्यर्थ--भावनारुप का सत्यत्व उसमें अवश्य है और स्मरण के माहात्म्य से प्राप्ति भी होगी।

यदि श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की करुणा से मनो-वाक् कायके द्वारा सर्वथा ब्रज-लोकानुसार भजन हों,तब श्रीनन्दनन्दन की सर्गादि–कर्तृत्वरूप अचिन्त्य-शक्ति के द्वारा सापेक्षणीय भावनामय रूप का भी निर्म्माण होगा, किन्तु भावनामय रूप से श्रीव्रज में स्थिति, श्रीव्रजलोगों का संग, और श्रीनन्द-नन्दन की सेवा,इन सब दुर्घट-घटना को अचिन्त्य शक्तिही सम्पन्न करेगी।

साधक का सापेक्षणीय भावनामय जब साक्षात् रूपसे उत्पन्न होगा,तब श्रीनन्दनन्दन एवं व्रजजनोंके साथ नित्यसम्बन्ध भी श्रीनन्दनन्दन की दुर्घटघटनारूपा अचिन्त्यशक्ति के द्वारा ही होगा। भावनामय रूप के सत्यत्व में प्रमाण "मानसोपचारिण"

इस पद्य की टीका में द्रष्टव्य है। उस का विवरण इस प्रकार है—यथा कयश्चित् मन के द्वारा घृत सहित परमान्न का निर्म्माण करके सुवर्णमय पात्र के द्वारा श्रीभगवान् का भोग के निमित्त उपस्थित किया गया और वह परमान्न अत्यन्त उष्ण है, या नहीं इस की परीक्षा करने के लिए अपनी अंगुली-युगल को उस परमान्न में डुबाया; परमान्न अत्यन्त उष्ण होने के कारण अंगुलीद्वय दग्ध हो गए, इसके बाद उसके मन में बड़ा खेद हुआ कि मैंने बहुत बुरा कामकिया,अहो श्रीप्रभु का भोग अंगुली-स्पर्श से दूषित हो गया। इस दुःख से उसकी समाधि भी टूट गई और उसने देखा कि दोनों अंगुली जल गईं तथा पीड़ा का भी अनुभव होने लगा। इस प्रकार से भावनामय-वस्तु का भी सत्यत्व प्रतिपादन हुआ। अन्यथा अर्थात् इस बात को न माने पर अंगुली द्वय का दग्ध होना असम्भव होता है।

इससे साधक तथा सिद्ध-देह की मिश्रता पाई जाती है। जैसे कि रसाला में दोनों वस्तुओं का मिश्रण होता है। अतएव सिद्ध रूपसे जो कार्य होता है, उसका प्रभाव साधक-रूपमें भी पड़ता है और साधक रूपसे जो कार्य होता है, उसका भी प्रभाव सिद्धरूप में पड़ता है। इसलिए सिद्ध तथा साधक-रूपके द्वारा ब्रजलोकों के अनुसार ही मनो वाक् काय के द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा करना कर्त्तव्य है।

यहाँ पर प्रयोग इस प्रकार है—बाहर पीड़ा की 'दग्ध अगुष्ठ की' सत्य अनुभूति होने के कारण, भावनामय तप्त परमान्न रूपत्व भी सत्य है। अतएव सिद्ध-रूप भावनामय होने पर भी व्यूहता है। आत्मा की एकता अहन्तास्पद से शारीरादि से होती है। ममतास्पद देह भी साधक तथा सिद्ध-

रूप से दो प्रकार है। वहाँ पर तटस्थ--स्वरूप का व्यूहत्व नहीं है तथा ममतास्पद स्वरूप का बाधित हुआ है। सिद्धरूप गत हर्ष-निष्ठादिक साधक रुपमें अनुभावित होकर संक्रमित होता है। अतएव वीणा—बैणिक दृष्टान्त की तुल्यता सर्वांश में नहीं है। सिद्धरूप ब्यूहवन्त हैं, बीणा—काष्टमय हैं, अतएव कभी सिद्धरूप गत अन्तर्दशा बाद में साधक–रूपमें रहती है। अन्तर्दशा के पश्चात् तटस्थता है। कभी सिद्धरूप गत अन्तर्दशा के अनन्तर तटस्थता होती है। कभी तटस्थता के अनन्तर सिद्धरूपगत अन्तर्दशा होती हैं।

यहाँ पर 'व्रजलोका:' इस शब्द से श्रीमद् रूप गोस्वामी आदि को जानना होगा। उनके अनुसार साधकरूप से श्रीकृष्ण-चन्द्र की सेवा करना कर्त्तव्य है, इसलिए श्रीगुर्व्वादियों का साधकायमान रुप के अनुसार साधक रूप से सेवा करना कर्त्तव्य है। न तो तटस्थायमान रुप के अनुसार सेवा होनी है।

श्रीरुपमञ्जरी आदियों की भक्ति कामरुपा 'प्रेममय-तृष्णा-रूपा' है किन्तु सम्भ्रम–प्रीति रूपा नहीं है। मुक्ताचरित में इन सबों का लीलामय विवरण इस प्रकार है—स्वाभिलषित वस्तु की परिचर्या विशेष के लाभ से रङ्गणमाला प्रभृति परम प्रणयिसखी होने पर भी परिचारिका की भाँति व्यवहार करती है। यहाँ पर श्रीरङ्गणमाला तथा रङ्गणवल्ली यह दो नाम श्रीरुपमञ्जरी का है।

श्रीगोविन्दलीलामृत में भी उल्लिखित है कि यह बड़ी आश्चर्य की बात है - श्रीनन्दनन्दन ने श्रीराधा को गाढ़ आलिङ्गन किया, उनके साथ सखियों की संगति न होने पर भी सखियाँ हर्षान्विता हुई'।

वृन्दा का प्रश्न के अनन्तर नान्दीमुखी का यह उत्तर है। और भी देखो,श्रीराधा के सुख से सखियों का जो सुख की उत्पत्ति होती है, उसमें श्रीराधा के साथ सखियों का अभेद--भाव ही कारण है। क्यों कि व्रजरूप-कुमुदों का चन्द्र-स्वरूप श्रीकृष्ण की ल्हादिनी-नाम की जो शक्ति है-उसी का सारांश रूप प्रेम है, और प्रेम ही श्रीराधा रूप लता है, सखीगण उसका पत्र-पुष्प तथा नवपल्लव-स्वरूप होने के कारण श्रीराधा के तुल्य हैं, अतएव श्रीराधा रूप लता श्रीकृष्ण-लीलामृतरस समुद्र से अभिषिक्त होकर उल्लषिता होने पर वे सब पत्र-पुष्पादि-स्वरूप सखीगण अपना सेचने से भी शतगुण उल्लासवती होती हैं।

श्रीरूपमञ्जरी आदि सदा भावोल्लासाश्रया है। श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी निजकृत मनः शिक्षा ग्रन्थ में कहते हैं कि-हे मन ! तुम श्रीराधा-प्राणनाथ रूप से व्रजविपिन-चन्द्र श्रीकृष्ण को स्मरण कर एवं श्रीवृन्दाबनेश्वरी को श्रीकृष्ण की प्रिया रूप से स्मरण कर। ललितासखी को श्रीराधासखी रूप से स्मरण कर। विशाखा को शिक्षासखी-गुरु रूपसे स्मरण कर एवं राधाकुण्ड तथा गोवर्द्धन को तद्दर्शन—रति—दायक रूप से स्मरण कर ।

भावोल्लास का लक्षण यह है कि-परस्पर परमप्रीति-वद्ध सजातीयभक्तों के बीचमें एक भक्त के प्रति अन्य भक्त की जो रति। वह भावोल्लासमयी रति कृष्ण-विषयिणी रति का पोषक है इसलिए व्यभिचारिभाव में ही प्रविष्ट होती है। सजातीय भाव-भक्ति-विशिष्ट परस्पर रति का विषय व आश्रय रूपसे अवस्थित-भक्तगणों की एकतराश्रया जो रति वह यदि श्री-कृष्ण-विषयिणी रति का समान अथवा उस से न्यून होती है तब

वह श्रीकृष्ण-विषयिणी रति का सञ्चरिभाव में प्रविष्ट होगी। किन्तु मधुररस में यदि वह श्रीकृष्ण-विषयिणी रति से भी अधिका होकर उसमें सतत अभिनिवेश वशतः सम्यक् प्रकार से बृद्धि-शीला होती है तब वह सञ्चारो होने पर भी समस्त भाव की अपेक्षा से परमोत्कृष्ट होने के कारण भावोल्लास रति ही कही जायेगी।

सारार्थ यह है कि-भावोल्लास-सखीस्नेहाधिका सखीगणों का स्थायीभाव है, सुतरां सुहृद्रती पद से सञ्चारी भाव में श्रीराधा की सखीविषय में रति, एवं भावोल्लास में सखीगणों की श्रीराधाविषयिणी रति ही होगी। श्रीराधा की सखी-विषय में रति श्रीकृष्णरति-मूलक है एवं श्रीकृष्णरति के पोषक है। सखी-स्नेहाधिका सखीयों का श्रीराधाविषय में जो स्नेहाधिक्य है वह अनादिसिद्ध अर्थात् स्वतः सिद्ध है। सञ्चारीति—यह श्रीकृष्णरति मूलक होने के कारण से है। वह भी श्रीकृष्ण-रति से स्वपक्षत्वादि होने से ही होता है। यह भावोल्लास-स्थाया भाव विशेष है। किन्तु श्रीकृष्णरति परार्थ न होने के कारण अङ्गता न होकर तद्विषयक रस का अङ्गी ही होगी। अतएव भावोल्लास-स्थायी श्रीराधा-विषयक रस का अङ्ग ही होगा। किन्तु हास्यादि की भाँति अङ्गी नहीं है। हास्यादि-रति परार्थक है। यहाँ पर प्रयोग इस प्रकार है-श्रीकृष्णरति से पुष्यमाण होने के कारण उससे अधिक होने पर भी सुहृद्रति श्रीकृष्णरति से अधिका नहीं होती। श्रीकृष्णरति के समान होने पर भी वह सुहृद्रति व्यभिचारी रूप होती है। उदाहरण से स्पष्ट हो रहा है। श्रीनारायण की कान्ता लक्ष्मीदेवी निरन्तर वक्षःस्थिता तथा पतिव्रता होकर भी तुलसी के तिवास स्थान तथा दासगण

सेवित जो चरण है उस चरण की रेणु को प्रार्थना कर रही हैं। उन लक्ष्मी की भाँति हम भी तुम्हारे चरणरजः को प्राप्त किए हैं, अर्थात् जैसे तुमने लक्ष्मी का मनोवाञ्छा पूर्ति की है तैसे ही हम सब के ऊपर भी कृपा करो। हम सब प्रपन्न हैं।

यह पद्य प्रेमोत्कर्षदृष्टि प्राप्ति के लिए है। अतएव रस का आस्वादन से मनो-वाक्-काय के द्वारा मञ्जर्य्यादि का पूर्वाब्रस्था-परावस्था के अनुसार साधक रूप से और सिद्ध रूप से कामानुगा में षड् विधा सेवा होगी।

प्रत्येक ज्ञान-प्राप्त्यर्थ-मात्र अनुसन्धान से सेवा षड् विधा है। प्रतीयमान मञ्जर्यादि के अनुसार से भी अजातप्रेम-साधक के लिए वह वैधी होगी। जैसे वादक के चित्त में रहने वाली गीति उसके मुख से निकलती है और वीणा से निर्गत होकर उसके कर्ण में एक काल में बोध होता है। वैसे साधक की चित्तस्था सेवा तन्मुखनिःसृता तत्कर्ण-सङ्गता सिद्धरूप चित्तादि सम्भवा हैं। यहाँ पर ज्ञान--प्राप्त अर्थ-स्पष्ट है। प्रेमोत्कर्ष प्राप्त अर्थ का प्रकाश हो रहा है। जिन नारायण के पदाम्बुज-रज की कामना लक्ष्मी देवी करती है, उसी प्रकार हम सब भी तुम्हारी पद-रज की कामना करती हैं।

"हे नन्द महाराज! यह बालक गुणों से श्रीनारायण के समान हैं।" यह गर्ग मुनि का वचन भी है। इसलिए उस लक्ष्मी की भाँति हम सब भी तुम्हारी पदरज को प्रपन्ना हैं।

तटस्थरूप यथास्थित देह से गौण-मुख्य रूप से अर्थद्वय का आस्वादन होता है। वह मानस-वाचिक-कायिक भेद से प्रत्येक तीन प्रकार होगा। स्व-पुंस्त्वभावना और स्वपुंस्त्व-का अभाव योग से भी वह सेवा दो प्रकार की होगी।

यहाँ पर स्व–पुंस्त्वभावना के बिना यथास्थित-देहस्वरूप से मनो–वाक्–कायके द्वारा परार्थास्वादन तीन प्रकार होगा, कैमुत्यिक न्याय से. कामानुगा के अन्तर्भुक्त होने के कारण–तीन प्रकार भेद का अस्वीकार से द्वादश भेद होने परभी नो भेद ही रहा।

श्रीमन् महाप्रभु का भाव तथा वर्ण को श्रीराधिका का भाव-वर्ण के साथ मिलाकर तथा उस स्वरूप को श्रीनन्दनन्दन—स्वरूप के साथ एक करके–पूर्वोक्त लक्षण साधक रूप की उप-युक्तदशा में श्रीकृष्णलीला का आस्वादन गत भावनामय सिद्ध-रूप के साथ एक करने से अनुसन्धान रहित होगा। यहाँ पर तटस्थ रूप नहीं है।

शची–सूनु को नन्दीश्वर-पति-सुत रूप से स्मरण करना श्रीरघुनाथदास–गोस्वामी के इस वाक्य में श्रीनन्दनन्दन ही विधेय हैं यह स्पष्ट हो रहा है।

जैसे श्रीनन्दनन्दन का प्रकाश द्वैविध्य का अभाव में भी श्रीगौरविधु–स्वरूप है, तैसे श्रीरूपमञ्जर्यादि का प्रकाश द्वैविध्य का अभाव में भी श्रीरूपगोस्वामी--रूपता है, एवं अन्य मञ्जरी आदि का प्रकाश द्वैविध्य का अभाव में भी श्रीमद् रूपगोस्वामी आदि की अनुगतता है। इस लिए श्रीगुर्व्वादियों का प्रकाश द्वैविध्य का अभाव होने पर भी श्रीरूप-गोस्वामी आदि के अनु-गत रूप से सङ्गित्व है। अतएव श्रीनन्दनन्दन आदि की और श्रीगौरविधु आदि की प्राप्ति समकाल व समान रूप से होती है। यहाँ पर प्रकाश का परम वैशिष्ट्य होने के कारण प्रकाश–द्वैविध्य गत भेद का स्वीकार नहीं हुआ है। क्यों कि वह सर्वथा भेद का अभाव रूप है। प्रकाश में धाम, परिकर, समय, लीलादि

गत भेदों के मध्य से एकतर भेद का ही स्वीकार होता है। किन्तु यहाँ पर उन सवों के मध्य से एक तरका का भी भेद नहीं है। यह ही परम वैशिष्ट्य है। यह उन सवों का युगपत् प्रकाश स्वीकार करने के लिए हुआ है। प्रकाश की द्विविधता का अभाव में भी जो प्रकाश उत्पन्न होता है वह अचिन्त्य है अर्थात् शास्त्रैकगम्य है।

श्रीकृष्ण का श्रीगौरविधु--रूप में जो प्रकाश है—वह अचिन्त्याचिन्त्यत्व है। वह अचिन्त्याचिन्त्यत्व इस प्रकार से है—कलियुग-पावनत्वादि के द्वारा परम कारुण्य का आधिक्य होने पर तथा प्राकट्य के लिये तीन हेतु रहने के कारण परमसत्ता में भी श्री राधिका का भाव—वर्ण का स्वीकार से है। अतएव श्रीमन् महाप्रभु का भाव—वर्ण—स्वरूप, श्री राधिका भाव—वर्ण एवं श्री नन्दनन्दन स्वरूप के मिश्रण से घन-आवर्त्त दुग्ध-के तरह लीला में माधुर्य का "आधिक्य" वैशिष्ट्य है। साधकरूप-सिद्धरूपगत कामानुगा का स्वल्पोदय दोनों लीला का पृथक् अव स्थान होने से है। साधक-स्वरूप में उभय लीला का उद्दीपन होने पर भी समय आदि का भेद न रहने के कारण उभय लीला की अभिन्नता विद्यमान रहती हैं। वैधी भक्त साधक--रूपाचरण व उसका सालक्षण्य-प्रतीयमान रागानुगाभक्त तटस्थ-रूपाचरण का परस्पर वैलक्षण्य-'प्रभेद' है। व्रजलोकानुसार के बिना शास्त्र के शासन से अथवा लोभ से स्वाभीष्ट साधक रूप करके तटस्थ रूप साहित्य का अभाव से जो सेवादि होती है वह वैधी है। व्रजलोकानुसार के बिना शास्त्र-शासन व लोभ के बिना स्वाभीष्ट साधक-रूप से साधक-रूप साहित्य का अभाव द्वारा जो सेवा होती है वह पर-अर्थात्

तटस्थ रूप है ।

शास्त्र का शासन से ही यहाँ पर 'एव' कार का अर्थ है । ब्रजलोकानुसार के बिना शास्त्र-शासन से ही सेवा में प्रवृत्ति है यह जानना होगा ।

जिसमें शास्त्र का शासन व ब्रजलोकानुसार की अपेक्षा नहीं वह अमार्ग है । दो ही मार्ग हैं—वैधी और रागानुगा ।

लोभ से कर्म का आचरण करने पर उनकी भक्ति जसे होगी, लोभ से वैधी का आचरण से उसी प्रकार रागानुगा भक्ति होगी ।

आवेश का प्रकार यह है—मानस,वाचिक व कायिक रुप से । जैसे वैणिक की चित्त में रहने वाली गीती वीणा से उत्पन्न होती है । इसलिए मानस आवेश होने से साधकत्व अवाधित है । सिद्धरूप व तटस्थ का अयोग होने पर भी जैसे सान्निध्य होता है वैसे सिद्धरुप- तटस्थ स्वकार्य का उत्पादनकारी भी होगा । प्रयोग यह है—अयोग होने पर भी तटस्थता स्वकार्य का उत्पादिका होती है । क्यों कि सिद्धरूपगत अन्तर्दशा से मिश्रत्व असान्द्र से मौजूद है । तटस्थ का अयोग होने परभी सिद्धरूपगत-अन्तर्दशा स्वकार्य उत्पादिका होती है, क्यों कि तटस्थता से वह भिन्न है । सिद्धरूप का यथास्थित देह के साथ संयोग नहीं है, अभाव-सिद्ध होने के कारण आरोप भी नहीं हो सकता है । यथास्थित देह-विषयक अभिमान का लीन हो जाने से सिद्धरूप-गत सेवा का उदय होता है । साधकरूप जिस तटस्थ के साथ युक्त होता है उस तटस्थ को सूक्ष्मरूप जानना होगा । जैसे जीव लिङ्गशरीर को नहीं छोड़ता, तैसे तटस्थ साधक-रूप को नहीं छोड़ता है ।

श्रीकृष्ण-प्रेमको मैं वन्दना करता हूँ। जिसकी उदय से सूर्य के उदय से अन्धकार नाश की भाँति ताटस्थ्य का नाश होता है।

तन्त्र की व्याख्यान्तर इस प्रकार है। प्राप्त श्रीकृष्णादि-सङ्ग ब्रजजनानुकारि भावनामय रुप यथास्थित देह का योग और अयोग के द्वारा साधकरुपत्व व सिद्धरूपत्व इन दोनों रूप से सेवा दो प्रकार की होती है जो पूर्ण व अपर भेदसे प्रसिद्ध है।

साधक-रूपगत वाह्य व अर्द्धवाह्य दशा होने से पूर्वा होगी। साधक-रूपगत अन्तर्दशा होने से परा सेवा होगी। पूर्वसेवा असम रूप व असम कहलाती है। पर--सेवा समकाल व समरूप से व्याप्त होतीहै। भावनामय देह का यथास्थित देह में पूर्व-सेवा—अधिकाररुप में अन्तर्भाव हो जाता है।

पहले दूसरी व्याख्या में साधक रूप से सेवा में यथा-स्थित देह का भावनामय रूप में अन्तर्भाव कथन है। यहाँ पर भावनामय रूप का यथास्थित देह में अन्तर्भाव कहा गया है। ही विशेष है।

यहाँ-साधक रूप गत सेवा का समरूपक होने से, शीघ्र ही सिद्ध--रूप गत सेबा आने के हेतु, साधकरूपा गत सेवा का प्रावल्य न होने के कारण अर्द्ध वाह्य दशाके स्थायी होने पर भी आरोप में वाह्यदशा की स्थिति निश्चित है। अन्तर्दशा में यथास्थित देह का भावनामय रूप में अन्तर्भाव है। अन्तर्दशा में साधक रूप व सिद्ध रूप का वीणा—वैणिक—तुल्यत्व है। यहाँ पर कथित साधनांश का लोप होने के कारण इन सब का उल्लेख पहले नहीं हुआ है।

इस ग्रन्थ में सिद्ध-साधक-रूप-गता रागानुगा तीन प्रकार

दिखाई गई है। लोभ से लेकर रुचि पर्यन्त वाह्य—अर्द्ध वाह्य—दशा असमरूपा व असमकाल रूपा है। आसक्ति से लेकर भाव-पर्यन्त अन्तर्दशा समरूपा व समकाला है। लोभ से लेकर भाव-पर्यन्त वाह्य—अर्द्ध वाह्य-दशा अन्तर्दशा स्वसमकाला-असमरूपा होगी। यहां पर सिद्ध-साधक-रूप की वीणा वैणिक तुल्यता नहीं है। लोभ से लेकर रुचि-पर्यन्त वाह्य-अर्द्ध वाह्य दशा समरूपा होने से भी असमकाला होगी। आसक्ति से लेकर भाव-पर्यन्त, अन्तर्दशा में समरूपा समकाला भी होगी। समञ्जसानुगा वैधी राग प्राप्त न होने के कारण कामानुगा से भिन्न है। स्त्रियों के लिए पति ही गुरु है यह शास्त्र-शासन से प्रवृत्त समञ्जसा है। क्यों कि राग प्राप्त न होने के कारण जहाँ पर प्रवृत्ति शास्त्र के शासन से ही होती है वह वैधीभक्ती कहलाती है।

समञ्जसानुगा की भी कामानुगा से भिन्नता है। क्यों कि कामरूपा का लक्षण समर्था रतिपरक है। कामरूपा का लक्षण यह है—कामरूपा भक्ति वह है जो कि प्रेममयी भक्ति से सम्भोग-तृष्णा को भी (अंग संग विषम में स्व सुख वांछा को भी) रागात्मिका रूप से स्वीय स्वरूप में प्राप्ति कराती है, क्यों कि इसमें संभोगतृष्णा का उदय में भी केवल श्रीकृष्ण-सुख के लिए ही सर्वत्र उद्यम देखा जाता है। (यहाँ पर काम शब्द से निज इष्ट-विषयक रागात्मिका प्रेमविशेष को ही जानना होगा) कामरूपा का ही दूसरा नाम समर्था है। जिस रति के कारण संभोग की इच्छा प्रतिक्षण तादात्म्य को प्राप्त होती है और गति भी किसी अनिर्वचनीय रूप की होती है वह समर्था कहलाती है। इसमें सम्भोग-इच्छा-विशेष विहार का कभी भी अंग नहीं होता है। समस्त लीला-विलास का अद्भुत तरंग

विद्यमान है और लीला-विलास-शोभा का अति चमत्कार रति-तरंग भी है। प्रयोग इस प्रकार है-संभोगेच्छा समर्था-रति में सर्वदा तादात्म्य-प्राप्त होकर रहती है। कभी भेदप्राप्त नहीं होती है। संभोगेच्छा समञ्जसा में तादात्म्य-प्राप्त नहीं होती है, क्यों कि बीच बीच में दोनों का भेद दिखाई पड़ता है।

ग्रन्थकार श्रीलनरोत्तमठाकुर—महाशय के प्रति अपनी विनम्रता को प्रकट करते हुये कहते हैं कि—श्रीनरोत्तमठाकुर—महाशय के चरण-कमल मेरे हृदय में सदा स्फूर्ति प्राप्त हो और उन चरण-कमल के मधुपान से मत्त भक्त-भ्रमर का सङ्ग मुझे दिन-रात मिलता रहे।

एक ही सेवा मन-वाणी-काय के सम्बन्ध से तीन प्रकार होगी। मानसी-वाचिकी-कायिकी। इस विचार से साधकरूप मानसी-वाचिकी-कायिकी सेवा इस प्रकार है। श्रीरूपमञ्जरी साधकायमानरूप से सेवा की प्रार्थना करते हुए कहती हैं—हे बृन्दावनेश्वरी मेरी प्रार्थना सुनो। कब मेरे प्रति तुम्हारी करुणा होगी?, हे बिम्बोष्ठि! कब में तुम्हारे वदनारविन्द में अतिशय आनन्द से ताम्बूल अर्पण करूँगा,और वह ताम्बूल श्रीनन्दनन्दन लूटकर खालेंगे, यह देखकर मेरा चित्र आनन्द से भर जायगा।

सिद्धरूप से मानसी-वाचिकी-कायिकी तीन प्रकार सेवा इस प्रकार है:—

श्रीराधिका के आगे श्रीरतिमञ्जरी कहती हैं-हे सुन्दरी! मेरा एक निवेदन सुनो, मैंने श्यामवर्ण चोली से तुम्हारी वक्षोजको ढ़ाका है, यह अति सत्य है,हे देवि! इस का स्वरूप को को सुनो, तुम्हारी वक्षोज-द्वय-श्रीकृष्ण की निधि स्वरूप है,

इसलिए श्रीकृष्ण श्याम-वर्ण चोली के रूप से निजी धन को-छिपाने के ढाका है वे तो अपना प्राण से भी अधिक प्रिय है यह मानकर चोली से ढाक कर रखते हैं।

तटस्थ रूप से स्व-पुंस्त्वभावना के योग से मानसी—वाचिकी—कायिकी यह तीन प्रकार सेवा इस प्रकार है-कृष्ण-कर्णामृत ग्रन्थ में लीला-शुक की उक्ति यह है-विचित्र पत्रांकुरों से सुशोभित बाला के स्तन—युगल के मध्य में मैं निवास करूँ ? अथवा बन में प्रवेश करूँ ? किन्तु श्रीवृन्दावन-नटराज ही मेरा उपास्य है उनके दर्शन के बिना मुझे कुछ भी नहीं सूझती है।

यहाँ पर "वालास्तनान्तर" इस शब्द से—स्वपुंस्त्व—भावना सूचित हुई है। तटस्थ-रुप से स्वपुंस्त्वभावना के अयोग से मानसी-कायिकी-वाचिकी सेवा इस प्रकार है-हे प्राणेश्वरी ! हे प्राणनाथ ! राधाकृष्ण शुनो, मैं तुम्हारे श्रीचरणों की सेवामें सतृष्णा हूँ। मैं अति क्षुद्र अयोग्य-नीच जीव हूँ। तो भी ऐसी इच्छा मेरे हृदय में उठती है। जिस करुणा के बल से मैं वृन्दावन में रह रहा हूँ वह कृपा मेरी इच्छा की सिद्धि में सहायता करें।

यहाँ श्रीरुपप्रभुकृत कार्पण्यपञ्जिका के इस श्लोक में जन्तु-अनर्ह इत्यादि शब्दों से पुरुष-योषित्-अभिमान की असङ्गति स्पष्ट है। तटस्थ रूप से श्रीकृष्ण में ऐश्य-भावना के योग से मानसी-वाचिकी-कायिकी सेवात्रय का उदाहरण इस प्रकार है-श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कह रहे हैं कि—वैकुण्ठ धाम के मध्य में श्रेष्ठ पुरी है द्वारका पुरी जहाँ पर श्रीप्रभु अपने भाई बलदेव-

तथा सन्तति वृन्द के साथ परमानन्द से निवास कर रहे हैं। लक्ष्मी-वृन्द-विनिन्दित महिषियों के साथ निरन्तर जहाँ पर लीला—विलाश करते हैं। अतएव यह द्वारावती पुरी वैकुण्ठ से भी प्रिय है।

श्रीकृष्ण-जन्मभूमि मथुरा द्वारावती पुरी से भी अति—प्रिय है। और इस मधुपुरी में जहाँ पर श्रीव्रजनागरी गण विराज करतीं व श्रीकृष्णचन्द्र सर्वदा विहार करते हैं—वह मधुपुरी ही मेरी नित्य सेव्या है। यहां पर प्रभु शब्द से ऐश्य—भावना का प्रचार हुआ है।

तटस्थ रूप से स्व-पुंस्त्व—भावना के योग से मानसी - वाचिकी—कायिकी यह तीन प्रकार सेवा श्रीपाद रूपगोस्वामी—कृत उत्कलिकावल्लरी—श्लोक से सूचित हो रही है-हे नाथ श्रीकृष्ण ! हे मदीश्वरी श्रीराधिका ! तुम्हारे दास्यभाव को प्राप्त होकर परम प्रेमी उद्धव आदि महात्मागण यहाँ पर तृण आदि जन्म की वान्छा की है, मैं निकृष्ट जन्मा होने पर भी जिनके प्रभाव से वहाँ पर निवास कर रहा हुँ वह दीन- गामिनी तुम्हारी करुणा को प्रणाम करूँ।

ऐश्य-भावना से पूर्वा वैधी सेवा छै प्रकार है। पुनः इष्ट सम्पादक रूप से वह द्वादश प्रकार है। यह अष्टादश (अठा-रह) वैधी के मध्य में तीन तीन भागों का विचार प्रस्तुत हो रहा है। सेवा में प्रथम तीन सेवा का मिश्रण होने से मथुरा में महिषित्व प्राप्ति निश्चित है। प्रथम व द्वितीय भाग के--(किसी एक के) मिश्रण से द्वारका में महिषित्व प्राप्ति सुनिश्चित है। प्रथम—द्वितीय त्रिक—द्वय का मिश्रण से वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति होगी। समस्त त्रिक का मिश्रण से गोलोक की प्राप्ति निश्चित

है। जिसमें लोक की अपेक्षा है वह शास्त्र—शासन मूलक है। जिसमें शास्त्र—शाधनाधीन लोकापेक्षा नहीं है उसमें भाव के आविर्भाव पर्यन्त दोनों रूप की व्यूहता है। साधक होने पर भी सिद्ध-साधक व्यवस्था है। प्रेम होने से सिद्ध होकर साधक की प्रकाशता उक्त दोनों रूपों में व्याप्त होती है।

यथास्थित देह के साथ भावनामय देह का योग दो रूप से होता है, एक भावनामय स्वरुप की स्फुर्ति से, दूसरा संयोग-आरोप के व्यतिरेक से है। यथास्थित—देह की स्फुर्ति होने से साधकरूप वाधित नहीं होता है। दोनों रुप की सेवा समरुप नहीं है। तथापि साधकत्व अवाधक है। आरोपकाल में यदि वाह्य-दशा हो, तव स्फूर्तिकाल में दशात्रय का उदय होगा। आरोप-काल में यदि अर्द्धवाह्यदशा का उदय हो, तव स्फूर्तिकाल में अर्द्धवाह्य व अन्तर्दशा होगी आरोप में यदि अन्तर्दशा हो, तव स्फूर्तिकाल में वह अन्तर्दशाका उदय होगा। सिद्धरुप से जो सेवा की प्रवृत्ति होती है वह सेवा स्फुर्ति कहलाती है। जिसकी जो दशा आरोप के समय से होती है, उसकी वह दशा सर्वदा स्थायी होकर रहती है। अनुलोम होनेसे कभी यह दशा उर्ध्वगामी होती है, और प्रतिलोम्य होने से तटस्थता को प्राप्त होती है। स्थायी-दशा तथा तटस्था के बीच में अन्य दशा 'वाह्य-अर्द्धवाह्यदशा' का सद्भाव होने पर भी लाघव से वह न कही गई। वाह्य-अर्द्ध-वाह्यदशा का अवान्तर भेद रहने पर भी अप्रसिद्ध के कारण उसका उल्लेख नहीं हुआ। नित्यसिद्ध सखी-भाव को आश्रय न करके सिद्धरूप चिन्तन के द्वारा जो सेवा करता है उसकी सिद्धरुप के विना मानसी-सेवा नहीं होगी। जैसे मुण्ड न रहने के कारण उसको दर्द भी नहीं कही जाती है—वैसे आश्रय के अभाव से सिद्ध का असद्भाव होता है। तथापि श्रीकृष्ण-सेवा

की महिमा से वह सेवा व्यर्थ नहीं होगी।

सिद्ध रुप के अभाव के कारण साधक की जो सेवा है वह वैधी ही है, रागानुगा नहीं है। दूध-दधि-चिनी--कपूर के मिश्रण से शिखरिणी बनती है। उसमें चीनी का अभाव होने के कारण जैसे स्वाद नहीं होता है, वैसे व्रजभाव वहाँ पर नहीं होता है। सर्वथा व्रजलोकानुसार--सेवा न करने से धामान्तर की अर्थात् मथुरा-द्वाराका आदि की प्राप्ति होगी परन्तु व्रजभाव की प्राप्ति नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि–श्रीराधा-प्राणबन्धु की सेवा सर्वथा व्रजलोकानुसार करनी होगी। आशङ्का यह हो सकती है कि भावनामय देहादि सब मिथ्या हैं क्यों कि जीव का उसमें अध्यास नहीं है। जैसे दूसरे के देहादि अवस्था में दूसरे का अभ्यास नहीं रहता है। इसलिए उसमें जीव का अभिमान भी नहीं हो सकता है, जैसे दूसरे के देहादि-अवस्था में अभिमान नही रहता है।

इस प्रकार शंका का उत्तर यह है कि–यदि भावनामयी अवस्था सत्य है. तब भावनामय देह सत्य क्यों नहीं होगा ? यदि भावनामयी अवस्था में अध्यास-अभिमान भी होता है, तब भावनामय देह में आवेश व अभिमान क्यों नहीं होगा ?

यदि स्वप्न-मनोरथ के मनोमय-देह में आवेश से उत्पन्न अभिमान के भाँति भावनामयी अवस्था में भी आवेश से उत्पन्न अभिभान होता है, तब उस प्रकार भावनामय देह में अभिमान क्यों नहीं होगा? यदि भावनामयी अवस्था सत्य होने के कारण आत्मान्वय होता है, तब भावनामय देह का भी आत्मा के साथ संयोग क्यों नहीं होगा।

इसलिए भावनामय देह भी सत्य है। स्व-पुंस्त्व–भावना के योग

व अयोग से पहले तटस्थ रूप से जो छः प्रकार सेवा वर्णित हुई है, उसके द्वारा मानसी सेवा का ही उत्कर्ष साधन होता है। तटस्थ रूप से परा जो छः प्रकार सेवा है, उससे यथास्थित देह में वाधित-अभिमान नाश का साधन हुआ है।

पूर्व अभिमान चित्-शक्ति-वृत्ति रूप है, पर अभिमान-मायावृत्ति रूप है। पूर्व साध्य है, और पर नाश्य है।

अतएव प्रथमा त्रिविधा सेवा कामानुगा के अन्तर्गत है—यह कथन निर्दोष है।

व्रजभाव होने से अनर्थ की निवृत्ति होती है। यहाँ पर विचार इस प्रकार है – सिद्धरूप आत्मवत् 'वियोग-विहीन' है। क्योंकि इससे तीन प्रकार सेवा सम्पन्न होती है। सिद्ध-साधक-गत आत्मा एक है, सिद्धरूप-गत आनन्द-आदि का उदय साधक रूप में होता है।

अभिमान भी सिद्ध-साधक-गत एक है, उभय के साथ ही आत्मा का अन्वय है। आरोप होने से साधक-रूप में सिद्ध-रूप गत अभिमान को प्रकाश-रूप जानना होगा वह उसमें भिन्न नहीं है। नहीं तो सिद्ध रूप की पूर्णता की हानि होगी।

इसके बाद तटस्थ रूप का बिचार हो रहा है। वृक्ष से पक्षी जैसे भिन्न है वैसे देह से आत्मा भिन्न है। भाव-आविर्भाव पर्यन्त देह में आत्मा का अभिमान वाधित-रूप से रहता है। देह की जब स्फूर्ति नहीं रहती है, तब वाधित आभिमान भी लीन होकर रहता है। देह की स्फूर्ति होनेसे वह अभिमान जागजाता है। जब तक अभिमान रहता है तब तक आत्मा-आरोपित से यह देह सत्य माना जावेगा। इसलिए इस देह से अन्य कर्म-धर्म

व अधर्म त्याग करना कर्त्तव्य है। जिससे रागानुगा–भक्ति की पुष्टि हो उस सिद्धान्त के अनुसार चलना होगा।

वह तटस्थ देह दो प्रकार है, स्थूल व सूक्ष्म। वह प्रत्येक वृहद्–मध्यम–लघु भेद से तीन प्रकार हैं। वाह्य-दशा में साधक का सूक्ष्म ताटस्थ्य वृहद् होता है। तटस्थ रूपमें स्थूल ताटस्थ्य वृहद् है। अर्द्ध-वाह्य-दशा में साधक रूप में सूक्ष्म ताटस्थ्य मध्यम होता है। तटस्थ रुप में स्थूल ताटस्थ्य मध्यम है। अन्तर्दशा में साधक रूप में सूक्ष्म-ताटस्थ्य लघु है, तटस्थ रूप में स्थूल ताटस्थ्य लघु है।

अभिमान भी तीन प्रकार है-वृहत्–मध्यम तथा लघु। वाह्य दशा होने पर सिद्धरूप में अभिमान लघु है। तटस्थ रूप में अभिमान वृहत है, अर्द्ध वाह्य–दशा होने पर सिद्धरूप में अभिमान मध्यम है, तटस्थ–रूप में अभिमान मध्यम है। अन्तर्दशा होने पर सिद्धरूप में अभिमान–वृहत् है, तटस्थ रूप में अभिमान लघु है। केवल अन्तर्दशा होने पर सिद्धरूप में अभिमान अति वृहत् है। साधक–रूप में जो अभिमान है वह चित्‌शक्ति की वृत्तिरूप है। वह वाह्यदशादि में सिद्ध रूप के भांति लघु आदि रूप है। केवल वाह्यदशा में यथा–स्थित देह का अभिमान अति वृहत् है। स्थायी-दशा यदि कनिष्ठा है तब अन्य दशा भी कनिष्ठा होगी, स्थायी दशा मध्यमा होने से अन्य–दशा भी मध्यमा होगी, स्थायी दशा उत्तमा होने से अन्य–दशा भी उत्तमा होगी। तटस्थ का अभिमान प्राकृत है। साधक का अभिमान अप्राकृत है। इसलिए तटस्थ का साधक–रूप अवस्था नहीं होती. किन्तु अन्तर रूप अवस्था होती है। जैसे–

पारकादि रस संयोगसे तावाँ सोना होता है वैसे वैष्णवी-दीक्षा ग्रहण से द्विजत्व होता है। इस वचन-प्रमाण से देहान्तरत्व-प्राप्ति सूचित होती है, किन्तु मिट्टी के घड़े की भाँति अवस्थान्तर प्राप्ति नहीं है। ऐसा होने पर वर्णाश्रम धर्म का अनुवर्त्तन होगा और उसका यथाविधि पालन न करने से प्रत्यवाय भी होगा। जैसे-साधक रूप से जो सेवा का अनुष्ठान होता है, उसको दूसरा जन यथास्थित देह से ही किया है ऐसा मानते हैं। इस प्रकार वर्णाश्रम रहित देह से की हुई सेवा को अन्य जन वर्णाश्रमी देह से ही की गई है ऐसा मानते हैं।

साधक रूप व यथास्थित देह का अन्वय सिद्धत्व है। जैसे लोभ के सद्भाव से अधिकारित्व रहने पर भी भावनामय देहारोप का नाश हो जाने पर वह साधकत्व फिर तटस्थ रूप से देहान्तर का प्राप्त होता हैं वैसे श्रद्धा के सद्भाव से अधिकारित्व रहने पर भी फिर वर्णाश्रम-धर्माचरण-कारी के द्वारा गृहीत श्रीभगवद् मन्त्र होने से उसका फिर देहान्तर प्राप्त होता है। अतएव साधकगत चित्त पृथक है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध का प्रसङ्ग इस प्रकार है। – ऋषिगण ने कहा–हे प्रभो! स्वाभाविक रागादि के वशीभूत होकर अन्तःकरण विषय में प्रवृत्त होता है। एवं विषय–समस्त भी वासना–रूप से अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं। अतएव विषय–वासना का अतिक्रम करने की इच्छा वाले मुमुक्षु के लिए वह दोनों किस प्रकार से परस्पर परित्यक्त होते हैं? यह आप वर्णन करें।

इसके उत्तर में श्री हंस भगवान् ने कहा-हेपुत्रगण! अन्तः करण विषय में प्रवृत्त होता हैं, एवं विषय समस्त

भी अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं किन्तु यह निश्चय जानना-विषय व अन्तःकरण मदात्मक जीव का अध्यस्त देहमात्र ही है, अतएव पुनः पुनः विषय-सेवा के द्वारा तत् संस्कार वशतः विषय में आविष्ट चित्त एवं वासना-रूप से चित्त से सम्भूत विषय समस्त को मेरे रूप का ध्यान करके परित्याग करें। यहाँ पर चित्त आदि की त्याज्य रूप में वर्णन किया गया है। अतएव साधक-रूप से चित्त आदि भिन्न हैं। मद्रूप होकर उसको छोड़ना होगा, तटस्थता त्याज्य है और साधकता ग्राह्य है।

जैसे कर्म समस्त शास्त्रीय हैं-वैसे वैधी-रागानुगा भी शास्त्रीय है। कर्माधिकारी को शास्त्रीय कर्म करने से लोग शास्त्रीय कर्त्ता कहते हैं, वैसे वैधी व रागानुगा-अधिकारी को भी शास्त्रानुसार आचरण करने से लोग शास्त्रीय कर्त्ता कहते हैं।

रागानुगा के दो प्रभेद सम्बन्धानुगा व कामानुगा—रूप से हैं, अतः यह भी शास्त्रीय है। जैसे सम्बन्धानुगा भक्ति का आचरण न करने से कामानुगा भक्त अशास्त्रीय नहीं होता है वैसे कामानुगा भक्ति का आचरण न करने पर भी सम्बन्धानुगा भक्त अशास्त्रीय नहीं होता है। तथा वैधी भक्ति का आचारण न करने से रागानुगा भक्त अशास्त्रीयकृत् नहीं होता है।

अत एव श्रीरघुनाथदास-गोस्वामी-चरण ने कहा है कि-रे मन! तुम असद्वार्त्ता रूप वेश्या को परित्याग कर, जो कि बुद्धि रूप सर्वस्व धन को हरण करती है। एवं मुक्ति रूप व्याघ्री की बात भी श्रवण न करना, वह सर्व शरीर को ग्रास कर लेगी। और श्रीलक्ष्मीनारायण की भक्तिको त्याग कर। क्योंकि वह तुम्हें आकाश मार्ग से-शून्य बात को दान करेगी, अतएव इन सबको

छोड़कर ब्रजभूमि में श्रीराधाकृष्ण का भजन कर, जो आत्म-स्थित प्रेम रूप मणि को दान करते हैं।

अधिकारी—लोभ से प्रवृत्त होने से वह भक्ति रागानुगा होगी, वह भक्ति रागानुगा नहीं होगी यदि अधिकारी का लोभ दूसरी वस्तुकी ओर रहे। तब ब्रजभाव भी नहीं होगा। शास्त्रीयता और प्रवृत्ति में लोभ, यह दोनों रहने से ही रागानुगा भक्ति होती है। अतएव श्रीमद्भागवत में श्रीव्यासदेव का आदेश यह है कि—अपने अपने अधिकार में निष्ठा ही गुण है इसका अभाव ही दोष-कारण है।

रागानुगा-भक्ति की शास्त्रीयता श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में सुसिद्धान्त रूप से सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। साधन, भाव, प्रेम यह तीन प्रकार से उत्तमा भक्ति का निरुपण हुआ है। उसमें से साधन-भक्ति दो प्रकार है वैधी व रागानुगा। रागानुगा-भक्ति वह है-जिसमें वैधी-भक्ति-लक्षण का अभाव है, और लोभ ही जिसका साधन है।

भावनामय रूप का आरोप से देश, काल, आदि का भी आरोप पाया जाता है और यह साधन की सिद्धि के लिए सुनिश्चित है।

भावनामय रूप के आरोप के द्वारा मानसी सेवा होती है, और इसमें श्रीकुण्डवास आदि समस्त प्रकार सेवा की भी सिद्धि होती है। सिद्धरूप में प्रेमवत् दशा स्थायी नहीं होती है। प्रेम होने से वह दशा स्थायी होती है और उसका नाम केवल अन्तर्दशा होगी। जैसे प्रीत्यादिरस में अन्य रस अनुभाव स्वरूप होकर मूल रस का वैशिष्ट्य को प्रकाश करते हुये अपना भी वैशिष्ट्य को प्रकाश करते हैं। नहीं तो उन सबों का अनु-

भावत्व की सिद्धि नहीं होगी। वैसे वैधी भक्ति में श्रवण-कीर्तन आदि जो अङ्ग कथित हुए हैं वे सब रागानुगा का भी अङ्ग हैं इस लिए उन सबने रागानुगा का वैशिष्टय को प्रकाश करते हुए अपना वैशिष्टय को भी प्रकाश किया है। ऐसा न होने पर उन सबों की रागानुगा की अङ्गता सिद्ध नहीं होगी।

वैधी भक्ति रागानुगा-भक्ति के बिना सिद्ध नहीं होती है, क्यों कि दोनों का अङ्ग एक ही है, किन्तु कर्म व्यतिरेक से सिद्ध है, और मन्त्र तन्त्र के छिद्र को नाम संकीर्त्तन से पूर्ण करना कर्त्तव्य है इस वचन से भी उक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है।

रागानुगा से भिन्न वैधी भक्ति है। उसका लक्षण यह है कि—जहाँ पर भजन की प्रवृत्ति में राग प्राप्त न होकर शास्त्र के शासन से ही प्रवृत्ति होती है वह वैधी भक्ति है। यहाँ पर "यत्र" जहाँ पर यह शब्द सामान्य रूप से निर्देश हुआ है।

रागानुगा वैधी-भक्ति का अभाव से सिद्ध है, क्यों कि इसकी प्रवृत्ति में लोभ ही एक मात्र कारण है, सेवा तो साधक रूप से व सिद्ध रूप से ब्रजलोक के अनुसार करना ही कर्त्तव्य है। इस पद्य से भी यह सिद्ध हुआ है, और रागात्मिका अनुसृता यह विशेषण से भी रागानुगा भक्ति वैधी-भक्ति-व्यतिरेक रूप है-यह सिद्ध हुआ है। सामान्य निर्देश से विशेष निर्देष बलवान है। जहाँ पर प्रवृत्ति लोभ से होती है वह भक्ति रागानुगा कहलाती है। यहाँ पर लक्षणा करने से वैधी व्यतिरिक रागानुगा का नहीं सिद्धत्व होगा। श्रुति व अनुमान के द्वारा जहाँ पर प्रत्यक्ष की वाधा होती है वहाँ पर सुबुद्धि पण्ड़ित गण ऐतिह्य को प्रमाण मानते हैं। पुराणमें यह सुनने में आता है कि कुरुपुर में रहते वाले-कोई वृद्ध वर्द्धकि श्रीनारद के उपदेश से श्रीनन्दनन्दन

की प्रतिमा को पुत्र—बुद्धि से भजन करके भाव- सिद्धि को प्राप्त किया था। साधक-देह से साधक की भक्तानुसारि सेवा के सम्बन्ध में स्कन्धपुराण का प्रमाण यह है। श्रीनन्दनन्दन ब्रजराज की प्रतिमा कहने से ब्रजेन्द्र की भाव—चेष्टानुसारिणी सेवा का निरसन हुआ। क्यों कि—श्रीनन्दराज ने साक्षात् श्रीकृष्ण की ही सेवा की। यहाँ पर सिद्ध शब्द से वत्सहरण लीला में जैसे श्रीकृष्ण सबों का पुत्र बने थे ऐसा समझना होगा। नन्दनन्दन की अधिष्ठान को इस शब्द से साधक रूपत्व प्राप्त हुआ है। दोनों के द्वारा सेवा में वर्द्धकित्व अनुपयुक्त होने के कारण-गोपजातित्व का आरोप आक्षेप बलसे प्राप्त हुआ है। "पुत्रतया" इससे श्रीब्रजेश्वरी के भाव की अनुसरणता को प्राप्त होता है, "भजन" इस शब्द से श्रीब्रजेश्वरी की चेष्टानु-सरणता को प्राप्ति होती है। उक्त प्रकार-द्वय से भावनामयी ब्रजेश्वरी अनुगता गुणमय देह का आरोप भो प्राप्त होता है। क्योंकि भाव—क्रिया-जाति-गुण-द्रव्य—अनुकरणों में पर—स्पर सापेक्षता है। श्रीनारद के उपदेश से इस वाक्य से लोभ की प्राप्ति सूचित हुई है, इससे अधिकारिता प्राप्त होती है।

इस बात की पुष्टिके लिए यहाँ श्रीरतिमंजरी की प्रार्थना-वाक्य को उद्धृत कर रहे हैं। "वृन्दावन महारानी निजप्राणे-श्वरी हैं, उनके दर्शन विना प्राण विदीर्ण हो रहा है। उनके श्रीचरण पद्म ही एक मात्र गति हैं, और उन श्रीचरण की सेवा को छोड़कर और कुछ भी मनमें नहीं अच्छी लगती है, उनके श्रीमुख-कमल-दर्शन-प्राप्ति के कारण उनके कुण्डतीर में पड़े हैं और निरन्तर उनके नाम गुणों का गान करते हुये अत्यन्त आर्ति के साथ व्याकुल होकर रोदन कर रहे हैं। हे देवि ! कब

कृपा होगी ?" उपरोक्त प्रसङ्ग से-साधकायमान रूप से साधक रूप प्राप्त होता है तथा केवल अन्तर्दशा का यहाँ अभाव है जानना।

"या ते कञ्चुली"-इस श्लोक से केवल अन्तर्दशा का ही विवरण है। स्वनियम—दशक स्तोत्र में भी इसका विवरण है—"में अपना प्रियतम बन्धुगण से परित्यक्त होकर अतिशय हिताहित ज्ञान शून्य हो गया हूँ। अतएव निरतिशय दुःख-समुद्र में मग्न होकर प्राण—धारण में सचेष्ट होकर दातों से तृण दवाकर सर्वदा दीनता से प्रार्थना कर रहा हूँ कि—आज स्वयं श्री गान्धर्वा श्रीराधा मुझको अपना चरण समीप में ले जाय"। ऐसा होने से श्रीकृष्ण की प्राप्ति भी अनायास से ही होगी। यहाँ पर भी केवल वाह्य—दशा ही है, अन्तर्दशा का अभाव है। केवल वाह्यदशा आदि की उत्तमता जैसे होती उसका वर्णन कर रहा हूँ। प्रेम के सान्निध्य में जो अन्तर्दशा है उसका सान्निध्य में जो स्वरूप है, अन्तर्दशा उस स्वरूप का अपकर्ष करती है। वह वहुकाल व्यापी नहीं होती है। केवल अन्तर्दशा की उत्तमता का विवरण इस प्रकार है—प्रेम के सन्निधान में जो सिद्ध रुप रहता है, उस सिद्धरुप का ह्रास जिससे होता है उसका नाम वाह्यदशा है। उस रुप का उत्कर्ष है अर्थात् वह वहुकाल व्यापी होता है जो अन्य सबोंको दूर करके अपने को प्रकाश करती है। अतएव वह उत्तमता कहलाती है।

आरोपगत वाह्यदशा-अर्द्धवाह्यदशा-अन्तर्दशा से जो अन्तर्दशा होती है उसकी उत्तमता इस प्रकार है—प्रेम के सन्निधान में जो केवलान्तर्दशा है—उसके समीप में जो स्वरूप रहता है उस सिद्धस्वरूप का वह अन्तर्दशा उत्कर्ष करती है और उस

समय वह वहुकाल व्यापि होकर रहती है।

स्फूर्तिगत वाह्य-अर्द्ध वाह्य-अन्तर्दशा स्फूर्ति में उपगत जो अन्तर्दशा है उसकी उत्तमता उस प्रकार है—प्रेम के सान्निध्य जो केवलान्तर्दशा है उस समय-अल्पकाल में ही प्रकाशित होती हैं। अतएव इससे उन सबों की उत्तमता होती है।

"रिरंसां सुष्ठु कुर्वन्"—इस पद्य के संशय मिटाने वाली श्री मुकुन्ददास-गोस्वामि पाद निर्मिता व्याख्या को सुधीगण अवश्य अवलोकन करें। व्याख्या इस प्रकार है - श्रीनन्दनन्दन के सुख के लिए उनकी रमणेच्छा को सुन्दर रुप से सम्पन्न करने की इच्छा से. इस वाक्य से रागानुगा-भक्ति के द्वारा ही ब्रज में श्रीकृष्ण की सेवा होगी – यह दिखलाई है। विधि-मार्ग से इसके द्वारा—साधक रुप से विधि-भक्ति के द्वारा सेवा दिखलाई है। "केवलेन" इस पद से रागानुगा मिश्र भाव से सेवा होने से मथुरा में महिषीत्व की प्राप्ति होगी।

अभिलाष रहने पर यथोचित साधन से ब्रजलोकानुसार शुद्ध रागानुगीय पद्धति द्वारा ब्रज में श्रीकृष्ण की प्राप्ति होगी यह दिखलाया गया है।

साधन का वैषम्य होने से ब्रजमें श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होगी यह नागपत्नियों ने कही है-श्रीनारायण की वक्षःस्थिता लक्ष्मी श्रीकृष्ण–सेवा-प्राप्ति को इच्छा से चिरकाल तक तपस्या करके भी नहीं पायी है। यहाँ पर सेवा–प्राप्ति के अधिकारी निर्णय में प्रवृत्ति में लोभ और ब्रजजन के आनुगत्य अनिवार्य है यह दिखलाया है। वैधीभक्ति से भी सेवा दिखलाई है। मथुरा में महि–षीत्व की प्राप्ति होगी इस प्रकार श्लोकमें वाक्य-योजना होगीकि-केवल विधि मार्ग से-रागानुगामिश्र विधिमार्ग से गोलोक प्राप्ति

होगी इसके अभाव से व्रज प्राप्ति होगी यह सूचित हुआ है।

रागानुगा-विवृति पहले मैंने की है—उसी का परिष्कार करने के लिए यहाँ पर पुनः विवेचन किया है।

श्रीमुकुन्द दास गोस्वामी ने श्रीरुप-गोस्वामी कृत भक्ति-रसामृत-सिन्धु की उत्तम व्याख्या की है। उनकी परम-कृपा से ही मैं ने शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया है और गुरुवर श्रीकृष्णचरण मेरी एकमात्र गति हैं।

तटस्थ रुप में जो अभिमान होता है वह अप्राकृत है। क्यों कि प्राकृत अभिमान वाधित होता है। साधक रूप में भी अभिमान अप्राकृत है, किन्तु उसमें व्यतिरेक-सिद्धत्व नहीं है। क्यों कि वाधित अभिमान का अन्वय वहाँ पर होता है। सिद्ध रूप में अप्राकृत अभिमान है और यह व्यतिरेक से सिद्ध है। वाधित अप्राकृत-अभिमान का अन्वय नहीं होता है। केवल वाह्यदशामें वाधित प्राकृत तथा अवाधित अप्राकृत-अभिमान रूप अवान्तर भेदद्वय विशिष्ट यथास्थित रूपगत—अभिमान चतुष्पाद है। क्योंकि तत्र वाधित प्राकृत-अभिमान-विषय की अस्फूर्ति होती है। वाह्य दशा में प्राकृत-अभिमान के विषयों की अस्फूर्ति होने के कारण वाधित अप्राकृताभिमान तीन पाद स्वरूप होता है। अर्द्ध वाह्य-दशा काल में वाधिताभिमान पहले से अलग रूप से होकर विद्यमान रहता है, इसलिए वाधित अप्राकृत-अभिमान द्विपाद स्वरूप होता है। वाधित अप्राकृत-अभिमान पहले थोड़ा होता है, अन्तर्दशा में अवाधित प्राकृत अभिमान एक पाद स्वरूप होता है। वाह्यदशा मे वाधित अप्राकृत अभिमान का वाहुल्य होने के कारण वाधित-अप्राकृत अभिमान विशेष की अल्पता होती है। अर्द्धवाह्य दशा में वाधित

अप्राकृत अभिमान का मध्यम होने के कारण बाधित-अप्राकृत अभिमान विशेष की मध्यमता होती है। अन्तर्दशा में बाधित अप्राकृत अभिमान की अल्पता होने के कारण बाधित-अप्राकृत अभिमान विशेष का बाहुल्य है। सत्व बाधित होने पर शुद्ध—सत्त्व का प्राधान्य होता है। शुद्ध-सत्त्व का बाध होने पर शुद्ध सत्त्व विशेष का प्राधान्य होता है। इसलिए शुद्ध-सत्त्व का प्राधान्य के द्वारा ही तटस्थरूप होता है और शुद्ध-सत्त्व का प्राधान्य से साधक रूप होता है। केवल शुद्ध-सत्त्व विशेष रूप से सिद्ध रूप होता है, अतएव स्थूल ताटस्थ्यरूप बाधित प्राकृत है, सूक्ष्मताटस्थ्य अप्राकृत है। बाधित सूक्ष्म ताटस्थ्य जैसे-कभी भी साधक रूप को त्याग नहीं करता है वैसे बाधित-स्थूल ताटस्थ्य तटस्थ रूप को भी नहीं छोड़ता है। अतएव तटस्थ रूप में अभिमान का जो अप्राकृतत्त्व है, वह अप्राकृत अभिमान का अंश स्वरूप है यह कहने के अभिप्राय से है। किन्तु तटस्थ रूप स्वर्ण स्थानीय है। उसमें अबाधित अभिमान का योग स्पर्शमणि स्थानीय है। साधक-रूप रत्न स्थानीय है, उसमें भी अधिक-अबाधित-अप्राकृत अभिमान—विशेष का योग है, तटस्थ रूप में बाधित अभिमान का अंश रहने के कारण सदा स्वरूप-संप्राप्तत्व रूप गुणांश नहीं है।

श्रीकृष्ण के गुण-वर्णन में कहा गया है कि-सत्यवाक् से लेकर श्रीमान् पर्यन्त श्रीकृष्ण में जिन सब गुणों का वर्णन हुआ है वे सब गुण श्रीकृष्णभक्त में भी होते हैं। साधक रूप में उसके अंश का अभाव होने के कारण उक्त गुणों का अंश रहता है। जैसे-बुद्धिस्तदाश्रया है, इस वाक्य में-भगवान् सर्वत्र रहने पर भी प्रकृति के गुणों से लिप्त नहीं होते हैं, वैसे साधक

प्रकृति–बुद्धि का आश्रय करने पर भी प्रकृति अभिमान विषय आदि की स्फूर्त्ति नहीं होती है। अभिमान वाधित होने से ही तटस्थ भी वाधित होता है। अभिमान प्राकृत होने से ही ताट–स्थ्य का प्राकृतत्त्व होता है, अवाधित सूक्ष्म–ताटस्थ्य वाधित स्थूल ताटस्थ्यसम्पर्क से स्थूल-शब्द—वाच्य होता है, स्फूर्ति के आरोप के बिना यदि चार दशाएं हैं तब वाह्यादि वाधित रूप–तटस्थ नहीं होता है।

रागानुगा का तटस्थ लक्षण:—रागानुगा—अधिकारि लक्षण के आधीन है। रागानुगा—लक्षण से ही रागानुगा के स्वरूप लक्षण प्राप्त होता है। साधन–भक्ति लक्षणा से ही वैधी भक्ति का स्वरूप लक्षण प्राप्त होता है। वैध—भक्तयधिकारी लक्षण से ही वैधी भक्ति के तटस्थ लक्षण आता है, वैधी भक्ति लक्षण में उसका अनुवाद ही हुआ है। स्वरूप–लक्षण और तटस्थ लक्षण परस्पर सापेक्ष है, जैसे "अन्याभिलाषिता" यहाँ पर सामान्य रूपसे उत्तमा भक्ति का विधेय हुआ है। स्वरूप-लक्षण तटस्थ-लक्षण परस्पर सापेक्ष है। वैधी–रागानुगा विधेय है। वैधी–रागानुगा का तटस्थ लक्षण विपर्यय होने से भी वैधी—स्वरूप को नहीं छोड़ती। वह अन्वय सिद्ध है। रागानुगा—रागानुगा नहीं है—इसलिये स्वरूप को छोड़कर आभासता को प्राप्त होती है। वह व्यतिरेक सिद्ध है। जैसे सामान्य—उत्तमा भक्ति का तटस्थ लक्षण का अन्यथा होने से भक्ति नहीं होती है, इसलिए वह आभासता प्राप्त होती है। क्योंकि व्यतिरेक सिद्ध है। जैसे सामान्य—उत्तमा भक्ति व्यतिरेक सिद्ध होने से सामान्य उत्तमा भक्ति का स्वरूप लक्षण रहने पर भी सामान्य लक्षण का अभाव से उस का प्रभेद रूप 'मुमुक्षु'में यह रति नहीं होती है, इस वचन से स्वरूप त्याग होने से आभासता होती है।

इस प्रकार सामान्य उत्तमा भक्ति व्यतिरेक सिद्ध होने से, सामान्य उत्तमा भक्ति का स्वरूप लक्षण रहने पर भी तटस्थ लक्षण का अभाव से उसका प्रभेद रूप साधन भक्ति मुमुक्षु-आदि में नहीं होती है—यह स्वरूप त्याग से आभाषता होती है। अतएव सामान्य भक्ति में उत्तमता विशेषण का ग्रहण हुआ है। और यह तटस्थ लक्षण भावप्राप्ताभाषता का निराकरण के लिये है। "भक्तिरुत्तमा"-शब्द से भक्त्याभाष अनुत्तम है यह जानना होगा। अन्यथा "सर्वोपाधि—विनिर्मुक्त"-इस पद्य की विधेय-तुल्यता के अभाव से अप्रामाण्यता होगी। पहले रागानुगा-लक्षण की व्याख्या विशेष रूप से करने के लिये वैधी भक्ति का एक देश प्रदर्शन के द्वारा व्यतिरेक सिद्धता को स्वीकार करके-"यत्र रागानवाप्तत्वात्" यहाँ पर रागशब्द की विशेष व्याख्या दिखलायी है। वह राग से-अर्थात् लोभ से यह जानना होगा।

जब वैधी-भक्ति रागानुगा से स्वरूपलक्षण व तटस्थलक्षण के द्वारा भिन्न होती है तब वह व्यतिरेक सिद्धा होती है। जब स्वरूप लक्षण व तटस्थ लक्षण से अभिन्ना होती है तब अन्वय-सिद्धा है। "सर्वोपाधि"—यह विशेषण रहने के कारण वैधी भक्ति व रागानुगा भक्ति कर्मज्ञान व्यतिरेक सिद्धा हुई।

"कृष्णं स्मरन्" यहाँ पर निजसमीहित कृष्ण और उनके प्रियजन से अन्य स्मरण-कीर्त्तन-श्रवण आदि व श्रीव्रज से भिन्न स्थान में वास भी तटस्थ-लक्षण से प्राप्त हुआ, इसलिए रागानुगा-वैधी व्यतिरेक सिद्धा है।

और भी 'ईश्वरे तदधीनेषु' यहाँ पर तटस्थ रूपगत

वाधित-अभिमानांश व साधक—रूपगत वाधित-अभिमानांश रहने से अन्वय-सिद्धता के कारण साधक-भक्तत्व है।

"सर्वभुतेषु" यहाँ पर उस उस अंश का अभाव से व्यतिरेक सिद्ध होने के कारण सिद्ध-भक्तत्व हैं। पहले "तदधीनेषु मैत्री" यहाँ पर साधक—रूपगत वाधित-अभिमानांश—विद्यमान है। तटस्थ—रूपगत वाधित अभिमानांश रहने के कारण वालिशों के प्रति (मूर्खों के प्रति) कृपा, व द्वेष करने वालों के प्रतीक्षा होती है उक्त अभिमानांश का अभाव से ही "सर्वभूतेषु भगवद्भावं" समस्त भूतों में भगवद् भाव होता है। श्रीभगवान् में प्रेम होने के कारण से ही उनके अधीन जनों में भगवत् भावावलोकन होता है। यह भी जिसमें भगवत् प्रीति है उसके प्रति होता है।

"प्रेममैत्री"—यहाँ पर प्रेम शब्दसे भाव जानना होगा, भगवद् परिकरत्व का अनुसन्धान न रहने के कारण मूर्ख व द्वेषी जनों में भगवद्भावावलोकन होता है। वह भी जात प्रेमो भक्त के लिए है—जिसमें सदा ही अन्तर्दशा रहती है, अतएव भगवद् भावा वलोकन शब्द से-भगवद्-प्रेम-अवलोकन ही जानना होगा। अतएव—अनिर्वचनीय भाग्यातिशय से श्रद्धा होने के कारण—चन्द्रकांति प्रभृति में वैधीभक्ति का उदय हुआ है। वह भी कर्मज्ञान व्यतिरेक सिद्ध है। कृष्ण और उनके भक्तों की करूणा-लाभ होने के कारण रागानुगा सूर्य का उदय होता है, यह भी अन्वय सिद्ध हैं यह दिखलाकर विशेष व्याख्या की गई है। वह भी लोभ से है।

श्रद्धाहेतु—गुरुपादाश्रय रजनी-स्थानीय है, कृष्ण और उनके

भक्तों की करुणा से प्राप्त गुरुपादाश्रय का सूर्यकान्ति स्थानीयत्व है। प्रारब्ध—कृत स्थूल शरीर है, अनादि अविद्याकृत—लिङ्ग शरीर है। श्रीगुरुपादाश्रय मात्र से पूर्व का नाश होता है और प्रेम होने पर पर अवस्था का नाश होता है। वह भी क्रम पूर्वक होता है। पूर्व का नाश होने स देहान्तर होता है, पर का नाश होने से भी देहान्तर होता है।

रागानुगा में सिद्ध रूप का अजात प्रेम होने के कारण सिद्धायमान है। तटस्थ रूप का पोषक होने पर भी साक्षात् इष्ट-प्रापकत्व नहीं होता है, दोनों की कहने की इच्छा न होने के कारण पूर्व देहान्तर एक ही है, अतएव इसका साधक रूप से भक्तों का साधक व सिद्ध दो भेद है। श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की करूणा से प्राप्त श्रीगुरूपादाश्रय का पूर्वकृत वैध भक्ति का अपगमत्व होने पर भी जो अविद्या से अनिवर्त्तकत्व है वह उसके फल रूप प्रेम का उत्कर्ष ख्यापन के लिये है।

अविद्या का नाश प्रेम से ही होता है, साधन से नहीं। किन्तु अविद्या के वाधित रूप से तटस्थ रूप के द्वारा रागानुगा उसके अभाव से सिद्ध होती है। प्रयोग इस प्रकार है–जात भाव होने पर भी भक्त साधक है। क्यों कि सूक्ष्म–ताटस्थ्यांश की विद्यमानता है। एवं जात अन्तर्दशा भी साधक है क्यों कि सूक्ष्म ताटस्थ्यांश की विद्यमानता है। केवल अन्तर्दशा में अन्तर्दशा-गत भावना का तिरोधान होने के कारण भावनामय सिद्ध रूप भी भावना का व्यतिरेक सिद्ध है। जैसे ज्ञानमय-कैवल्य का ज्ञान होने से निर्गुणत्व होता है। स्फूर्त्ति में भावना ही उपादान है। केवल अन्तर्दशा में भावना उपादान व निमित्र भी है। यहाँ पर प्रकृत वचन में मयट् है और अमूर्त्तत्व अर्थ है। दूसरा स्थल में

विकार व प्राधान्यार्थ में मयट् है मूर्ति-रूप से ही विकार है। यह भी श्रीनन्दनन्दन की अचिन्त्य-शक्ति से ही है। उसका प्राधान्य के कारण वह निमित्त है। निमित्त का अभाव से नैमित्तिक का भी अभाव होता है, इस नियम से अन्तर्दशा गत भावना का उदय न होने से सिद्धगत चेष्टा का भी उदय नहीं होता है और सिद्ध-रूप का अमूर्त्तत्व होने पर भी असाक्षात् रूपत्व है। सिद्ध रूप का व्यतिरेक सिद्ध होने से भी रसना में दो वस्तुओं के संयोग की भाँति साधक रूप के साथ समवेतता है। यह भी श्रीनन्दनन्दन की अचिन्त्य शक्ति से है।

मैं अमुक का पुत्र हूँ, भाई हूँ, अमुक मेरा पुत्र है, यह सब अभिमान प्राकृत है। मैं अमुक का सेवक हूँ, अमुक मेरा सतीर्थ है, अमुक मेरा शिष्य है इत्यादि-अभिमान अप्राकृत है। मैं अमुक मञ्जरी की अनुगा हूँ वह मेरी मञ्जरी है, वह सखी मेरी अनुगा है-यह सब अभिमान प्राकृतेतर है। यह अभिमान विशेष ही साध्य है-पूर्व अभिमान वाधित है।

श्रीचन्द्रकान्ति कामानुगीय भाव प्रेम का ही उदाहरण स्थानीय है कामानुगा का नहीं। सम्भोगेच्छामयी कामानुगा का तत्तत्-भावेच्छात्मिका जो मुख्य प्रभेद है-इसके लिए वह उदाहरण उठाया नहीं गया। उसका उदाहरण यह है— पद्मपुराण में वर्णित है कि-प्रवोधनी रात्रि जागरण प्रसङ्ग में एक बाला ने उस प्रकार मनोरथ के साथ उत्सुकता पूर्वक मनोहर नृत्य करती हुई श्री हरि की प्रीति के लिए समस्त रात्रि का जागरण किया।

रागानुगीय भावोत्थ का उदाहरण यह है कि-वरानना चन्द्र कांतिने पति की कामना नहीं की किन्तु वह श्रीकृष्ण-चरित्र को

गाती हुई सात्त्विक भावों से विभूषता होती थी। वह इसी मन्व न्तर में ही श्रीकृष्ण की प्रिय वार्ता के द्वारा सिद्ध मनोरथ हुई। श्रीमूर्त्ति-माधुरी को देखकर लोभ उत्पन्न हुआ, इसलिए यह सम्भोगेच्छामयी है। श्रीमुकुन्द-दास-गोस्वामी -कृत श्रीभक्ति-रसामृत ग्रन्थ की टीका-'रत्नाल्पदीपिका' में यह वात स्पष्ट रूप में है।

'प्रवोधनी-निशानृत्य--माहात्म्यभरदर्शिनीं' इस वाक्य में जो नृत्य का प्रसङ्ग है वह साधक रूप से किया गया है, अतएव रास-नृत्य का अनुकरण प्राप्त होने से इसमें रागानुगात्व है। उसकी चिन्ता इस प्रकार थी-वहुत नारियों के मध्य मे मैं अधिक प्रीतिमती हूँ, नृत्य करते करते श्रीकृष्णने मेरा कण्ठ को आश्लेष किया है यह मनोरथ इससे प्रकट हुआ। रासदि--नृत्य सिद्ध रूप से हुआ है यह भी सिद्ध साधक रूप वीणा-वैणिक तुल्य है।

सिद्धरुपगत त्रिविध रागानुगा का उदय होने पर साधक-रूपगत रागानुगामय भावना ही निमित्त है, यदि सिद्धरुप से रागानुगा हो तव साधक रुप से मानसी सेवा भी रागानुगा होगी, अतएव रागानुगा में साधक रुपगत वाचिक-कायिक-वैधांश का असम्भव होने पर भी--"रिरंसां" यहाँ पर 'केवलेन' यह शब्द से साधक रुपगत कायिक-वाचिक-लोकापेक्षाकृत वैधी अंश से अन्य की मिश्रण की अपेक्षा से यह मानसी रागानुगा स्फूर्त्ति रूपा होगी। 'केवलेन' इस शब्द से-व्यक्तिरेक प्रदर्शनगत सिद्ध-रुप -गत स्फूर्ति सिद्धरुप के अन्तर्भाव के कारण उसके मिश्रण की अपेक्षा से होती है। यहाँ पर मिश्रण-लोकापेक्षाकृत-त्रिविध वैधी भक्ति का ही है।

उसके समवेत का अथवा केवल का श्रेष्ट सम्पादक रूप से

कृत-तटस्थ-रुप कृत सेवा का मिश्रण होने पर, साधक रुप कृत रागानुगा का प्रधान होने पर भी अप्रधान रुप से मिलन है। मिलन--लोकापेक्षाकृत वैधी—अंश का नाश होने पर-साधक रुपगत शुद्ध रागानुगा होने पर तटस्थ--रूपाचरणांश का वैधी होने पर दोनों का मिलन है।

साधक रुप से रागानुगा सिद्धरुप से वैधी व्यतिरेक का प्रदर्शन-स्थूल दृष्टि से है—सूक्ष्म दृष्टि से नहीं।

साधक-रुप-गत मानसी सेवा का वैधीत्व के बिना सिद्धरुपगत सेवा का भी वैधीत्व नहीं होगा। यह भी साधक-रुपगत भावना के अनुरूप होता है।

"आश्रयस्य विना भावात्" इस न्याय से सिद्धरुप से वैधी होने पर भी साधक-रुपगत मानसी सेवा वैधी होती है।

साधक रुप से मानसी सेवा वैधी होने पर तद्गत कायिक-वाचिक यह रागानुगा के दो भेद भी दुर्घट है। अतएव यह वैधी की अष्टादश 'अठारह' संख्या है, इनमें से एक वैधी भक्ति का भी यदि अनुसरण हो, तब ब्रजप्राप्ति नहीं होगी। इसलिए श्री ब्रजवृन्दाबन में श्री राधाप्राणबन्धु की प्रेम सेवा प्राप्ति की इच्छा हो तो सर्वदा ब्रजलोकानुसार ही सेवा करना कर्त्तव्य है। अष्टादश में से प्रत्येक का-व्यतिरेक सिद्धत्व होना रागानुगा साधन के लिए दुर्घट है।

तटस्थ रूप आचरण का रागानुगा से भिन्न होने पर भी —जो व्यतिरेक से दिखलाई गई है-वह वैधीगत है इस लिये कि-तटस्थ स्वरूप आचरण भी रागानुगा का पोषक ही है।

"यत्र रागानवाप्तत्वात्" यहाँ पर राग शब्द का दो अर्थ दिखलाया गया है । वह भी श्रीनन्दनन्दन व उनके भक्तों के कारूण्य से प्राप्त है-यह जानना होगा । अतएव उसी क्रम से लोभ को व्रज--लोकानुसार रूप से ही जानना होगा। जैसे वैणिक की गीति के विना वीणा से भी गीति उत्पन्ना नहीं होती, वैसे साधकरूपाख्या सेवा के विना रागानुगा सेवा भी सिद्ध नहीं होगी । यह भी सिद्ध रूपगता है-इसमें कोई सन्देह नहीं है । सिद्धरूप का सत्यत्व-असत्यत्व के विचार से हो तटस्थ का भी उक्त दो रूप होगा इसमें कोई संशय नहीं है ।

आचार्य —गण आन्तर—मनोवृत्ति में स्फोट को मानते हैं, स्फोट से ही अन्तरङ्ग जन का प्रकाश होता है, वह जिससे प्रकाश होता है, वह जन भी उस स्वरूप को प्राप्त होता है। यहाँ पर आन्तर—स्फोट रहस्य स्वरूप है, वैदिकगण इसको "विन्दु" कहते हैं, पौराणिक "भाव" कहते हैं, आलङ्कारिक "ध्यनि" कहते हैं, नाटकज्ञ "स्वगत" कहते हैं। वैयाकरण आन्तरस्फोट कहते हैं । सवों के मत समान है ।

क्योंकि -यह सब वाहर स्फोट से भिन्न है, वह भी पद-पदार्थों से अतिरिक्त है । वाहर स्फोट के अतिरिक्त आकाश के गुण शब्द को कोई सज्जन-"आलंकारिक गण" पूर्वावस्था "अव्यक्तनाद" करके मानते हैं, कोई परावस्था-"नाद"-मानते हैं । आन्तर स्फोट दो प्रकार होता है-कविनिवन्ध-गत और कविगत । "रहस्य"-आन्तर स्फोट है, यदि-वहि स्फोट हो तव उससे उत्पन्न है यह जानना होगा । ग्रन्थकार के द्वारा सिद्धान्त-स्थापन की मर्यादा उल्लंघन ही इससे होता है, जहाँ पर श्रुति

और अनुमान से प्रत्यक्ष का विरोध होता है, वहाँ पर भाव को ही बुद्धिमान् लोग मानते हैं। यहाँ पर "भाव" आन्तरस्फोट है। वह भी उक्त दोनों के होने से ही होगा। वह भी निश्चय होने से श्रीव्रजजन भाव का प्रापक-रागानुगा के लिए दुर्लभ है। इसलिए लोग समस्त उभय साधनों से भ्रष्ट होकर अच्छृङ्खल होंगे अतएव आचार्यों ने श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, इतरजन भी उसी का अनुसरण करते हैं। इसलिये वैधी भक्ति-रूप से प्रतीयमान रागानुगा के अङ्ग से भिन्न अंगों को तटस्थ-रूप से आचरण करना कर्त्तव्य है।

सिद्धान्त मे आन्तर-स्फोट माना गया है। अतएव केवल अन्तर्दशा होने पर सिद्धरूप होता है यह आन्तर-स्फोट है। यह रहस्य है जिसका लोभ हुआ है। और मध्य मध्य में जो अन्तर्दशा होती है उसी का रहस्य आन्तर-स्फोट है वह वहिः स्फोट नही होता है।

यहाँ पर विशेष रूप से कुछ कहना उचित है—प्रथम जो साधन है वह अन्य तीन साधनों से भिन्न है। "इष्टे स्वारसिकी रागः" यहाँ रागानुगा के विवेक केलिये पहले रागात्मिका को कहते हैं इस वाक्य का यह ही आता है।'आविष्टता' इससे रागानुगा का आचरण भी दुष्कर है यह जाना जाता है। "भेदद्वयस्वीकाराय" यह भेदद्वय भी सेवा में है, मानसी-सेवा में चेष्टित सेवा को न कहने की इच्छा से और राग से अभिन्नता स्थापन करने के लिए है।"साधकरूपेन मानसी विहिता" यहाँ पर मानसी-सेवा दो प्रकार की है आरोप और स्फूर्त्ति-रूप से। "लुब्धैः" यह पद भी उन दोनों के होने से होगी यह सूचित करने के लिए है। कामानुगा में वेश का अनुकरण करना सर्वथा निषध है यह

भी ध्वनित हुआ।

कामानुगा मुख्य है इसलिए सम्बन्धानुगा का उपदेश किया गया है। "भावचेष्टितमुद्रया" यहाँ पर भाव मन की आविष्टता है। यह भी अजहत् लक्षणा-सिद्ध है, भाव-मुद्रा भी दुष्कर है। यहाँ लक्षणा-प्रयोजनवती है। यहाँ भाव के साथ मन की आविष्टता प्रयोजन है। यहाँ पर असंलक्ष्य-व्यङ्ग्यक्रम ध्वनि न होगी किन्तु संलक्ष्य-व्यङ्ग्यक्रम ध्वनि होगी। अजहत् स्वार्थ-लक्षणा से आविष्टता का अनुवाद हुआ है। वह भी उसका स्वरूप के ज्ञापनांश का सद्भाव होने पर भी अनुकरण के योग्य उसका कार्यस्वरूप-ज्ञापनांश सद्भाव से है।

आविष्टता का—अजहत् स्वार्थ—लक्षणा के आश्रय होने के कारण उसका कारण रूप भावगत अजहत् स्वार्थलक्षणा का विषयत्व ध्वनित हुआ है। इससे विधेय का भी अजहत्-स्वार्थ-लक्षणाश्रयत्व ध्वनित होता है। इससे विधेय राग-चेष्टित का भी विधेयत्व प्राप्त हुआ है। "लुब्धै" इससे उत्तम काव्य विख्यात हुआ। ध्वनि के सद्भाव से ध्वनन-प्रतिध्वनत-अनुध्वनन के रहने से "इष्टे" यहाँ पर उत्तमोत्तम काव्यता हुई।

"तत्तद्भावादि-माधुर्ये" यहाँ पर लोभ के अनुमान में व्यतिरेकी हेतु है। "शास्त्रयुक्ति-अनपेक्षणं" ऐकान्तिकी हेतु यहाँ पर लक्षण-स्वरूप-अभेद की विवक्षा से है।

"याते" इस पद्य पञ्चदश का आस्वादन प्रकार—इस प्रकार है। पहले आरोप व स्फूर्ति के विचार से लोभ व साधु सङ्ग के सद्भाव होने पर भी पहले स्थायित्व नहीं है, केवलान्तर्दशा में ही सिद्ध-रूप की अनुभूति होगी, ब्रजजनानुसार

भजन से ही श्रीरूप की कृपा होगी। चारों दशा का फल बाह्य है। उसको छोड़कर इस विवृति की प्रयोजिका नहीं है। रस दो प्रकार है प्राकृत व अप्राकृत। प्राकृत में वत्सलत्वादि स्व-देह मूलक है और अप्राकृत में देहरति बत्सलत्वादि मूलक है। पाद्मोत्तरखण्ड में कथित हुआ है कि–कुत्ते की पूंछ को पकड़-कर समुद्र पार होने की भांति—रागोपसना को छोडकर श्री ब्रजेन्द्रनन्दन की प्राप्ति की इच्छा दूसरी उपासना से भी वैसी है।

हरेर्निःशुल्कदासेन वृन्दावन—निवासिना ।
श्रीगान्धर्वाविनोदाय भाषेयं पूर्णता कृता ॥

इति श्रीरूप-कविश्वर कृत रागानुगाविवृतिभाषा समाप्त हुई।

श्रील गोवर्द्धन भट्टमहोदय ने रूप सनातन स्तोत्र में कहा है –

हित्वा रूपपदाम्बुजं भवति यो राधाङ्घ्रिदास्योत्सुक-
स्तुङ्गं गेहमसौ तनोति न कथं रम्ये स्थले सैकते।
वाहुभ्यां त्रिदिवं स्पृशेन्नहि कथं नो वा कथं च्छादयेत्
तूर्णं भूरिरजोभिरम्बरमणिं पङ्गुं न किं चालयेत् ॥२१॥

जो रूप के चरणकमलों का परित्याग कर श्रीराधाचरणों की दास्यता को प्राप्त करने के लिये उत्सुक होता है वह व्यक्ति वृक्षों से रहित मरुभूमि प्रदेश में क्यों ऊंचे गृह का निर्म्माण नहीं करता है। वह अपने वाहुओं के द्वारा स्वर्ग (आकाश) का स्पर्श करने को क्यों नहीं जाता है। अथवा वह प्रचुर रजों के द्वारा आकाश में सूर्य को क्यों नहीं ढकना चाहता है। किम्बा

पंगु को क्यों नहीं चलाता है। तात्पर्य्य-श्रीरूप के विना राधा-दास्य अत्यन्त असम्भव है ॥ २१ ॥

कः श्रीभागवतस्य तत्वममलं बोद्धुं क्षमो भूतले
को वृन्दावनमाधुरीं कलयितुं वक्तुं च धत्ते मतिम् ।
गोष्ठेन्द्रात्मजरूपमद्भूततमं को वा नयेन्मानसं
श्रीमन्तं करुणाकरं गुणनिधिं रूपं सबन्धुं विना ॥२४॥

श्रीमान्, करुणाकर, गुणसागर सबन्धु रूप के विना कौन व्यक्ति इस भूतल में श्रीभागवत के विशुद्धतत्व को जानने में समर्थ होता है? कौन वा श्रीवृन्दाबन माधुरी का अवलोकन तथा बोलने के लिये समर्थ बुद्धि धारण कर सकता है। गोप—राजनंदन श्रीहरि के अद्भुतरूप को कौन हृदय में ला सकता है। अर्थात् श्रीरूपगोस्वामी की कृपा के विना इन सबों की प्राप्ति असम्भव है ॥ २४ ॥

वैराग्यं विधिरागभक्तिममलान्नाना रसान् द्वादश
प्रेमानं व्रजवासिनां शुकमुखैर्विप्रर्षिभिः संस्तुतन् ।
गोपीनां परमां लमत्परमहाभावां समर्थां रतिं
राधायाभिक्ष मादनं वद सखे को वेत्ति रूपं विना ॥२८॥

हे सखे कहोतो श्रीरूप के बिना वैराग्य, विधिभक्ति, रागानुगा भक्ति, विशुद्ध द्वादसरस, व्रजवासियों का प्रेम, शुक प्रमुख रसिक ऋषि वरों से संस्तुत गोपियों का परमोत्कृष्ट महाभाव, समर्थारति तथा श्रीराधिका के मादनाख्य-महाभाव इन सबको कौन जान सकता है। अर्थात् कोई नहीं। आपने भक्तिरसामृत-सिन्धु तथा उज्जवलनीलमणि नामक दोनों ग्रन्थों में इन सबका सरस विस्तर वर्णन किया है ॥ २८ ॥

प्रकाशक—
(कृष्णदास बाबा)

गुरुः शास्त्रं श्रद्धा रुचिनुगतिः सिद्धिरिति मे
यदेतत् तत्सर्वं चरणकमलं राजति ययोः ।
कृपापूरस्पन्दस्नपितनयनाम्भोजयुगली
सदा राधाकृष्णत्वशरणगती तौ मम गतिः ॥

(भक्तिसन्दर्भे)

मुद्रक :—

पं० प्यारेलाल शर्मा

श्रीविजयप्रेस, बल्लीगञ्ज, वृन्दाबन ।

श्रीश्रीराधारमणो जयति

श्रीरामशिष्यं कटके सुजन्मं पौगण्डकाले गुरुसान्निधाप्तम् ।
गौरोदयोर्व्यां परियान्तमाशु श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।१

गौराङ्गदासादिभिरुन्मदेन वृन्दावने वासकृतं सहर्षम्।
भावानुरागेण वदन्तमुच्चैः श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।२

गौडीयभक्तै रचिता रसाढ्या उद्दीपिता ग्रन्थवरा हि येन ।
साहित्यरत्नं ब्रजभूषणं तं श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।३

विज्ञैः समेतं सुमनःसरस्स्थं ग्रन्थानुलेखं परिशोधयन्तम् ।
सद्भक्तिसिद्धान्तनिधिं सनिष्टं श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।४

सौम्यं कृपालुं मधुभाषकण्ठं शुक्लाम्बरं क्षीणतनुं नितान्तम् ।
निःसङ्गमानन्दवपुं महान्तं श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।५

लीलास्मरन्तं सततं जपन्तं देवाग्र उन्मत्तपरं नटन्तम् ।
संकीर्तनामोदमोदं प्रसिद्धं श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।६

भक्ताधरोच्छिष्टललातिचित्तं स्नेहाभिमूर्तिं चलनातिधीरम्
भक्तानभक्ताञ्च नमन्तमुत्कं श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।७

रोमाञ्चकम्पाश्रुतरङ्गयुक्तं मुग्धं प्रशान्तं नितरां हसन्तम् ।
वैराग्यसिन्धुं करुणैकबन्धुं श्रीकृष्णदासं प्रणमामि नित्यम् ।।८
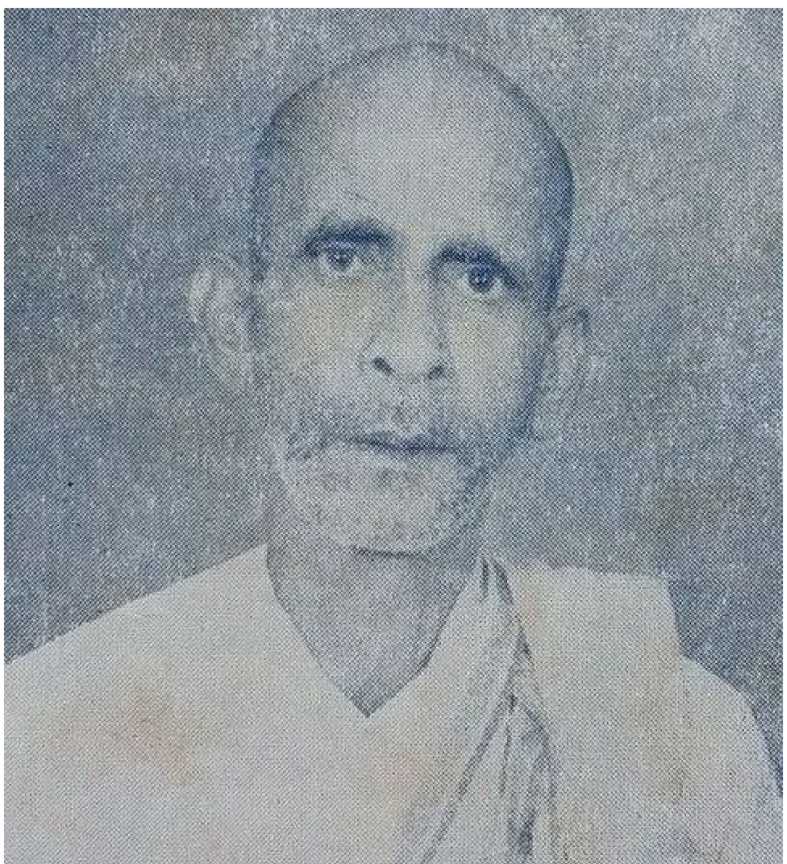
इति श्रीश्रीवृन्दावननिवासिना श्रीश्रीवृन्दावनदासेन विरचितं
श्रीश्रीकृष्णदासाष्टकं सम्पूर्णम्